मज़दूरी

लेखक
मॉरिस डॉब

अनुवादक
ओमप्रकाश

निदेशक
यूनिवर्सिटी स्कूल ऑफ कॉमर्स,
राजस्थान विश्वविद्यालय, जयपुर

पुनरीक्षक एवं संयोजक
लक्ष्मीनारायण नाथूरामका

वैज्ञानिक तथा तकनीकी शब्दावली आयोग, शिक्षा मन्त्रालय,
भारत सरकार की मानक ग्रन्थ योजना के अन्तर्गत प्रकाशित

प्रथम हिन्दी सस्करण मार्च, 1969
2,000 प्रतिया

James Nisbet & Co. Ltd., London द्वारा प्रकाशित 'Wages'
Fourth Edition, 1955 से अनूदित ।

प्रस्तुत पुस्तक वैज्ञानिक तथा तकनीकी शब्दावली आयोग की मानक ग्रन्थ
योजना के अन्तर्गत शिक्षा मन्त्रालय, भारत सरकार के शत प्रतिशत
अनुदान से प्रकाशित हुई है ।

मूल्य . 5.00 रु०

प्रकाशक : सामाजिक विज्ञान हिन्दी रचना केन्द्र
राजस्थान विश्वविद्यालय
जयपुर ।

मुद्रक : भारत प्रिन्टर्स,
एम० आई० रोड,
जयपुर ।

प्रस्तावना

हिन्दी और प्रादेशिक भाषाओ की शिक्षा के माध्यम के रूप मे अपनाने के लिये यह आवश्यक है कि इनमे उच्च कोटि के प्रामाणिक ग्रन्थ अधिक से अधिक सख्या मे तैयार किये जायें। भारत सरकार ने यह कार्य वैज्ञानिक तथा तकनीकी शब्दावली आयोग के हाथ मे सौंपा है और उसने इसे बडे पैमाने पर करने की योजना बनाई है। इस योजना के अन्तर्गत अग्रेजी तथा अन्य भाषाओ के प्रामाणिक ग्रन्थो का अनुवाद किया जा रहा है तथा मौलिक ग्रन्थ भी लिखाए जा रहे हैं। यह काम अधिकतर राज्य सरकारो, विश्वविद्यालयों तथा प्रकाशको की सहायता से प्रारम्भ किया गया है। कुछ अनुवाद और प्रकाशन काय आयोग स्वय अपने अधीन भी करवा रहा है। प्रसिद्ध विद्वान और अध्यापक हमे इस योजना मे सहयोग दे रहे हैं। अनूदित और नये साहित्य मे भारत सरकार द्वारा स्वीकृत शब्दावली का ही प्रयोग किया जा रहा है ताकि भारत की सभी शिक्षा सस्थाओ में एक ही पारिभाषिक शब्दावली के आधार पर शिक्षा का आयोजन किया जा सके।

मजदूरी नामक पुस्तक सामाजिक विज्ञान हिन्दी रचना केन्द्र राजस्थान विश्वविद्यालय, जयपुर द्वारा प्रस्तुत की जा रही है। इसके मूल लेखक मॉरिस डॉब हैं और अनुवादक डा० ओमप्रकाश हैं। आशा है कि भारत सरकार द्वारा मानक ग्रन्थो के प्रकाशन-सम्बन्धी इस प्रयास का सभी क्षेत्रों में स्वागत किया जायगा।

बाबूराम सक्सेना
अध्यक्ष

वैज्ञानिक तथा तकनीकी शब्दावली आयोग,
शिक्षा मन्त्रालय,
भारत सरकार,
नई दिल्ली।

प्राक्कथन

मुझे यह जानकर अत्यन्त हर्ष है कि हमारे विश्वविद्यालय के तत्वावधान मे "सामाजिक विज्ञान हिन्दी रचना केन्द्र" की ओर से मॉरिस डॉब की महत्वपूर्ण पुस्तक 'वेजेज' के चतुर्थ संशोधित संस्करण, अक्तूबर 1955, का हिन्दी अनुवाद प्रकाशित किया जा रहा है। इस ग्रन्थ मे मजदूरी से सम्बन्धित विभिन्न विषयों जैसे मजदूरी के सिद्धान्त, मजदूरी व जीवन स्तर, मजदूरी के अन्तर राज्य व मजदूरी एवं श्रमिक संघवाद व मजदूरी आदि पर विस्तृत व विश्लेषणात्मक विवेचन प्रस्तुत किया गया है।

प्रस्तुत ग्रन्थ का हिन्दी अनुवाद वैज्ञानिक तथा तकनीकी शब्दावली आयोग के नियतन पर डा० ओमप्रकाश, निदेशक यूनिवर्सिटी स्कूल ऑफ कॉमर्स, राजस्थान विश्वविद्यालय, जयपुर ने किया है और अनूदित पाण्डुलिपि का पुनरीक्षण व संयोजन केन्द्र के संयुक्त निदेशक श्री लक्ष्मीनारायण नाथूरामका ने किया है।

आशा है श्रम-अर्थशास्त्र (Labour Economics) मे मजदूरी विषयक विभिन्न प्रश्नो के अध्ययन मे यह ग्रन्थ समुचित योगदान प्रदान करेगा और भारत सरकार द्वारा मानक ग्रन्थो के प्रकाशन सम्बन्धी इस प्रयास का सभी क्षेत्रों में स्वागत किया जायगा।

रामचरण मेहरोत्रा
उपकुलपति
राजस्थान विश्वविद्यालय

जयपुर,
11 फरवरी, 1969

चतुर्थ संशोधित संस्करण की भूमिका

वर्तमान सस्करण मे जो सशोधन किये गये हैं वे, समय व्यतीत होने के साथ जो सशोधन आवश्यक है, उन्ही तक सीमित रखे गये हैं। ये मुख्यत· अध्याय II व III मे देखे जा सकते हैं और इनमे पूरक सूचना भी दी गई है (कुछ सामग्री को छोडकर) जिसमे पिछले दस वर्षों की अवधि आ जाती है। अन्तिम दो अध्यायो मे भी कुछ मामूली-से सशोधन व परिवर्द्धन किए गये है।

1946 के तृतीय सशोधित सस्करण की भूमिका मे लेखक ने यह बतलाया था कि, "द्वितीय अध्याय के अधिकाश भागो को पुन लिखा गया है", '1938 और इस बार के पुन लिखने एव पुन जचाने के परिणामस्वरूप सर्वाधिक परिवर्तन अध्याय IV व V मे हुआ है जिनका सम्बन्ध मजदूरी के सिद्धातो से है। इन अध्यायो के प्रारम्भिक स्वरूप मे से बहुत कम अ श ही शेष रह पाया है।" वर्तमान सस्करण मे ये सैद्धान्तिक अध्याय बहुत कुछ उसी रूप मे रह पाये है जिसमे ये 1946 मे छोड दिये गये थे। उनमे विशेष परिवर्तन करना समीचीन नही लगा, और उनकी कमियो को दूर करने से उन अध्यायों के अनावश्यक रूप से विस्तृत हो जाने का भी भय था। इसलिए उचित या अनुचित कारणो से उन्हे यथावत् ही रखा गया है।

मॉरिस डॉब

केम्ब्रिज,
अक्तूबर, 1955

विषय-सूची

अध्याय IV

मजदूरी के सिद्धान्त

अध्याय V

मजदूरी एव सौदाकारी शक्ति

अध्याय VI

मजदूरी की असमानतायें

अध्याय VII

श्रमिक सघवाद एव मजदूरी

अध्याय VIII

राज्य एव मजदूरी

इस पुस्तक-माला की भूमिका

—सामान्य सम्पादक

1914-18 के युद्ध के तुरन्त बाद एक ऐसी प्रारम्भिक आर्थिक पुस्तक-माला की आवश्यकता प्रतीत हुई जो "साधारण पाठक व प्रारम्भिक छात्र को आर्थिक विचारो के उन सामान्य सिद्धान्तो की कुछ जानकारी दे सके जिसे आधुनिक युग मे अर्थशास्त्री आर्थिक समस्याओ पर लागू करते हैं।"

इस पुस्तक माला की योजना स्वर्गीय लॉर्ड केन्स ने केम्ब्रिज इकोनोमिक हैंडबुक्स शीर्षक के अन्तर्गत बनाई थी और उन्होने इसके लिये एक सामान्य सम्पादकीय भूमिका भी लिखी जिसके कुछ शब्द ऊपर उद्धृत किये गये है। 1936 मे लॉर्ड केन्स ने इस माला का सम्पादन-कार्य डी० एच० रोबर्टसन महोदय को सौंप दिया जिन्होने इसे लदन विश्वविद्यालय मे अर्थशास्त्र के प्रोफेसर हो जाने तक सम्हाला।

इस पुस्तक-माला के सस्थापको के निर्णय का औचित्य इसको प्राप्त होने वाले व्यापक स्वागत से प्रमाणित होता है। ब्रिटिश साम्राज्य मे इसके प्रचलन के अलावा यह प्रारम्भ से ही सयुक्त राज्य अमरीका मे भी प्रकाशित हुई है और प्रमुख ग्रन्थो के अनुवाद अब तक जर्मन, स्पेनिश, इतालो, स्वीडिश, जापानी व लिथुएनियन भाषाओ मे भी प्रकाशित हो चुके हैं।

आर्थिक विज्ञान के विकास मे हाल के वर्षो मे जो परिवर्तन हो रहे हैं जिनका काफी सीमा तक स्वय लॉर्ड केन्स के कार्य एव प्रभाव से सम्बन्ध रहा है। ये परिवर्तन इस बात के परिचायक हैं कि पन्द्रह वर्षों से कम की अवधि मे सम्पादकीय भूमिका के कुछ अशो मे सशोधन करने की आवश्यकता प्रतीत हुई है। इस पुस्तक-माला की भूमिका का अन्तिम पैरा अपने प्रारम्भिक रूप मे इस प्रकार था

"सैद्धान्तिक विषयो मे भी पेशेवर अर्थशास्त्रियो मे अभी तक मतैक्य स्थापित नही हो पाया है। सामान्यत इन ग्रन्थो के लेखक स्वय को केम्ब्रिज स्कूल ऑफ इकोनोमिक्स के परम्परानिष्ठ सदस्य समझते हैं। कुछ भी हो, विषय से सम्बद्ध उनके अधिकाश विचारो, बल्कि उनके पूर्वाग्रहो का उद्गम उन दो अर्थशास्त्रियों डा० मार्शल और प्रो० पीगू, के लेख और व्याख्यान हैं जिनके सम्पर्क मे वे रह चुके हैं और जिन्होने मुख्यतया केम्ब्रिज विचारधारा को विगत पचास वर्षों से प्रभावित किया है।"

जब इस पुस्तकमाला का सम्पादन कार्य रोबर्टसन महोदय को हस्तान्तरित किया गया तो लॉर्ड केन्स ने इसकी सामान्य भूमिका को बनाये रखने की स्वीकृति प्रदान की, लेकिन बाद मे उन्होने अन्तिम पैरा को निम्न रूप मे पुन लिखा

'सैद्धान्तिक विषयों पर भी अर्थशास्त्र के नियमित अध्येताओं में अभी तक पूर्ण मतैक्य स्थापित नहीं हो पाया है। महायुद्ध के तुरन्त बाद प्रतिदिन की आर्थिक घटनाएं इतनी चौंका देने वाली होती गई कि लोगों का ध्यान सैद्धान्तिक जटिलताओं से हट गया। लेकिन अब आर्थिक विज्ञान को फिर से अनुकूल वातावरण मिल गया है। परम्परागत विवेचनों व परम्परागत समाधानों को अब संदिग्ध दृष्टि से देखा जा रहा है और उनमें सुधार व संशोधन भी किया जा रहा है। आशा है इस अनुसन्धान कार्य से अन्त में मतभेद दूर हो जायगा। लेकिन फिलहाल तो मतभेद और सन्देह बढ़ ही रहे हैं। यदि इस पुस्तकमाला के विषय के विभिन्न अंशों में अभी तक इतनी निश्चितता और स्पष्टता नहीं आ पाई है कि वे पढ़ने में सरल और बोधगम्य हो सकें, तो उनके लेखक सामान्य पाठकों तथा विषय का अध्ययन प्रारम्भ करने वाले विद्यार्थियों से क्षमा याचना ही कर सकते हैं।"

हाल की घटनाओं ने ऐसी परिस्थितियां उत्पन्न कर दी हैं जो उस समय की परिस्थितियों से सर्वथा भिन्न हैं जब कि उपर्युक्त शब्द लिखे गये थे। इसलिए वर्तमान सम्पादक को नई भूमिका लिखने के लिए बाध्य होना पड़ा है।

सम्भवतः इस स्तर से ही पिछले तीस वर्षों में इस देश में आर्थिक विचारों के विकास की कुछ मुख्य प्रवृत्तियों का बहुत संक्षेप में सर्वेक्षण करना ज्यादा उपयुक्त होगा। 1914 से पूर्व यहां आर्थिक सिद्धांत पर अधिकांशतः एल्फ्रेड मार्शल का प्रभाव था और उनका अनुसरण करते हुए अर्थशास्त्री इस रूप में विचार करने लगे कि आर्थिक प्रणाली के विभिन्न अंग सन्तुलन की दशाओं की ओर दीर्घकालीन प्रवृत्ति दर्शाते हैं, हालांकि सदैव उपस्थित रहने वाले प्रावैगिक तत्त्व विद्यमान ढांचे को निरन्तर संशोधित करते रहते हैं और नई और साथ में दूर की, लेकिन अप्राप्य, मंजिलें प्रस्तुत करते हैं जो परिवर्तन व अनुकूलन को बढ़ावा देती हैं। इसके अतिरिक्त मार्शल की प्रणाली में ये प्रवृत्तियां उन अन्तर्निहित शक्तियों के निरन्तर कार्यरत होने का परिणाम होती हैं जिन्हें अधिकांशतः प्रतिस्पर्धात्मक माना गया है। एकाधिकार की तरफ बढ़ती हुई प्रवृत्ति का आर्थिक विचारधारा पर निश्चित रूप से प्रभाव पड़ रहा है, लेकिन यह मूल्य सिद्धान्त के क्षेत्र में इतना नहीं है जितना कि निजी हित और सामाजिक हित के बीच सम्भावित भेद पर दिये जाने वाले बल के सम्बन्ध में है। प्रोफेसर पीगू के प्रभाव के अन्तर्गत पुरानी पीढ़ी के मूल्य-अर्जन रूप के साथ साथ, और इससे ही कल्याण-अर्थशास्त्र विकसित हो रहा है।

1918 के पश्चात् बिगड़े हुए उद्योगों की लम्बी पीड़ा, अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार में इस देश की स्थिति के कमजोर हो जाने और 1930–32 के आर्थिक संकट की अन्ततः तीव्रता (अनेक महत्त्वपूर्ण कारणों में से केवल कुछ का उल्लेख करने पर) ने मिलकर एक तरफ तो अल्पकालीन कारणों पर अपना ध्यान केन्द्रित किया, और दूसरी तरफ उस सीमा पर ही संदेह डाल दिया जिस तक स्वसमायोजन

एव दीखने मे स्वचालित मयत्र, जो उन्नीसवी शताब्दी म काफी प्रभावपूर्ण ढग से कार्यरत रहा था, युद्धात्तर काल के गहरे कुसमायोजनो एव असामजस्यों का मुकाबला कर सकेगा। साथ म स्वय मूल्य-सिद्धात अनेक लेखको क अ गमन से गहरा प्रभा वत हुआ जिन्होने मूल्य की समस्याओ पर एकाधिकार के दृष्टिकोण से प्रकाश डाला, और पूर्ण प्रतिस्पर्धा और पूर्ण बाजार की मान्यताओ पर आधारित विश्लेषण की अवास्तविक प्रकृति पर ध्यान आकर्षित किया। लेकिन अधिकाश आर्थिक विचारधारा इस समस्या का हल तलाश करने की इच्छा से प्रभावित थी कि प्रभावपूर्ण माग का ऐसा स्तर किस प्रकार कायम रखा जाय ताकि तीव्र मदी व व्यापक बेकारी की अवस्थाओ को उत्पन्न होने से रोका जा सके। दीर्घकाल के *अर्थशास्त्र के प्रति अधीरता की भावना बढ रही है क्योकि "उस अवधि मे हम सब इस दुनिया से ही चले जायेंगे'*, और अल्पकाल पर ध्यान ज्यादा, और सम्भवत आवश्यकता म ज्यादा, केन्द्रित होने लगा है, क्योकि इसम हम जीते हैं और गतिमान रहते है और इसमे हमारा अस्तित्व भी रहता है।

परिणामस्वरूप विचारो मे काफी उद्वेलन मचा हुआ है और पुरानी रूढियो को चुनौती दी गई है, और 'कुछ समय के लिए विवाद और सदेह मे वृद्धि हुई है," । यह उद्वेलन उस समय भी कम नहीं हुआ जबकि सितम्बर 1939 मे जर्मनी के साथ द्वितीय युद्ध छिड गया और इसके साथ आर्थिक प्रणाली के शाति-कालीन सामान्य कार्य सचालन मे राज्य का हस्तक्षेप इतना बढ गया जो 1914 18 के युद्ध के अन्तिम वर्षो क हस्तक्षेप से भी कही अधिक था।

जहा तक भावी प्रवृत्तियो का अनुमान लगाना सम्भव है, भूतकाल की अपेक्षा अब आर्थिक क्रिया के अनेक पहलुओ पर अधिक मात्रा मे स्पष्ट रूप से *सार्वजनिक नियन्त्रण लगाना सम्भव हो गया है। लॉर्ड केन्स को पुन उद्धृत करते हुए यह निस्सदेह रूप से आज भी सच माना जायगा कि*

"अर्थशास्त्र का सिद्धान्त कोई ऐसे निश्चित निष्कर्ष प्रस्तुत नही करता जो तुरन्त किसी नीति के सम्बन्ध मे लागू किये जा सकें। यह सिद्धात के बजाय एक पद्धति है, यह मस्तिष्क का एक यन्त्र है, एव चिंतन की एक विधि है जिसकी सहायता से इसका प्रयोगकर्ता सही निष्कर्ष निकाल सकता है।"

फिर भी ऐसा प्रतीत होता है कि भविष्य मे अर्थशास्त्रियो को आज की बनिस्बत आर्थिक नीति-सम्बन्धी मामलो पर अपने विचार अधिक प्रकट करने पडे—और कुछ समय तक—केम्ब्रिज आर्थिक पुस्तक-माला के भावी ग्रन्थो के लेखक आर्थिक सिद्धात के अधिक सामान्य पहलुओ की अपेक्षा विशिष्ट समस्याओ पर ज्यादा ध्यान दें।

केम्ब्रिज, सी० डब्ल्यू० जी०
अप्रैल, 1941

मज़दूरी प्रणाली

1 परिचयात्मक अर्थशास्त्रियों मे इस विषय पर बहुत कुछ वादविवाद रहा है कि सर्वव्यापक आर्थिक सिद्धान्तो को किस रूप मे स्वीकार किया जाय-अर्थात् क्या यह माना जाय कि वे अर्थव्यवस्था की किसी विशेष प्रणाली पर (जब तक कि वह किसी प्रकार के विनिमय पर आधारित है) लागू होते है, या कि वे मुख्यत नियत दशाओ एव सामाजिक सस्थाओ पर ही लागू होते है। रोबिन्सन क्रूसो के जगत् से साम्यताओ के प्रति अपने स्नेह के लिये अर्थशास्त्री प्राय उपहास के पात्र रहे है—अपनी ऐसी प्रवृत्ति के लिये जो किसी सामान्य आर्थिक समाज से आज के जटिल विश्व के सम्बन्ध मे निष्कर्ष निकालती है और ऐसा करते समय यह उन विभिन्न सस्थाओ की ओर ध्यान नही देती जो आधुनिक विश्व को क्रूसो के ससार से पृथक करती हैं। किन्तु इस व्यापक प्रश्न के प्रति किसी का दृष्टिकोण कुछ भी हो, बहुत कम व्यक्ति ऐसे होगे जो मजदूरी के प्रश्न पर विचार करते समय इस बात से इन्कार कर कि वे किसी ऐसे प्रश्न पर विचार कर रहे है जिसका हमारी आधुनिक आर्थिक व्यवस्था की परिस्थितियो मे घनिष्ट सम्बन्ध है तथा ऐसा करते समय जो समस्याए सामने आती है उनका स्वरूप मूलत उस प्रणाली की सस्थाओ एव विशेष लक्षणो से ही उभरता है—जैसे सम्पत्ति पर स्वामित्व के प्रकार एव उसके वितरण की रीति से तथा उत्पादन और श्रम विभाजन के ढग से।

कम से कम मजदूरी की समस्याओ पर विचार करते समय तो रोबिन्सन क्रूसो से की जाने वाली तुलनाओ अथवा "सर्वव्यापी सिद्धान्तो" की खोज से कोई

लाभ दिखाई नही देता। यही नही, यदि हमारा ध्यान वर्तमान परिस्थितियो की वास्तविकता पर केन्द्रित रहे तो हम प्रतीत होगा कि ये हमारे ध्यान को समस्या के ऐसे पहलुओं से हटाती है जिन्हे हम अत्यन्त महत्वपूर्ण समझते है और इस प्रकार हमारा गलत मार्गदर्शन करती हैं। यदि इसका आरम्भ उन असमानताओ के अध्ययन से किया जाय जो हमारी समस्या के वर्तमान स्वरूप को भूतकाल से पृथक करती हैं तो इस बात को जानने का यह एक उत्तम तरीका होगा कि वस्तुत. कौनसी बातें महत्वपूर्ण हैं, और साथ ही जो भी सच्ची समानताए विद्यमान हैं यह उनको सही रूप मे समझने के लिए आवश्यक भूमिका प्रदान करेगी। यदि हम उन लक्षणो का परीक्षण करें, जिनके द्वारा आजकल की मजदूरी-प्रणाली और उन रीतियो म भेद किया जाता है, जो भूतकाल मे काम लेने तथा मजदूरी चुकाने के लिय प्रचलित थी तथा इस दृष्टिकोण से आधुनिक मजदूरी प्रणाली के स्वरूप की परिभाषा करने का प्रयास करें तो हमे कुछ ऐसी मूलभूत विभिन्नताओ के अस्तित्व का पता लगेगा जो उन वास्तविक समस्याओ को विशिष्ट स्वरूप प्रदान करती है जिनमे आधुनिक औद्योगिक प्रणाली ग्रस्त है।

2 दास, कृषिदास एव शिल्पी ये तीन भूतकालीन प्रणालियां है जिनसे आधुनिक मजदूरी प्रणाली की तुलना की जा सकती है।

इनमे से प्रथम दास-प्रथा थी जिसके अन्तर्गत श्रमिक व्यक्तिगत रूप मे स्वामी की सम्पत्ति था, जिसे बेचा अथवा खरीदा जा सकता था। दास का समस्त समय स्वामी की सेवा म अर्पित रहता था और स्वामी उसे केवल इतना ही आहार देता था जितना कि उसके विचार से उसकी कार्यक्षमता को बनाये रखने के लिये पर्याप्त था तथा वह दास के काम करने के समय का उपयोग या तो प्रत्यक्षत अपनी आवश्यकताओं एव रुचियों की पूर्ति के लिए करता था अथवा किसी वस्तु के उत्पादन हेतु व्यापारिक उद्देश्य के लिये करता था। स्वामी की आय, दासो की सख्या और उनके भरण-पोषण की तुलना मे उनके द्वारा उत्पादित माल के आधिक्य की सीमा पर निर्भर होती थी—उनका भरण-पोषण उसकी लागत अथवा व्यय का प्रतीक था, और इससे अधिक वे जो उत्पादन करते थे वह उसका अतिरेक अथवा "शुद्ध आय" थी। जब नए दास आसानी से मिल जाते थे और उन्हें खरीदना सस्ता रहता था तब स्वामी को उनके भरण-पोषण पर अधिक व्यय करने की आवश्यकता नही होती थी तथा वह उनसे बस भर काम ले सकता था और उन्हें शीघ्रता से बलात करके नए दासों की खरीद के द्वारा अपने स्टाक की पूर्ति कर सकता था। जब नवीन विजयों की समाप्ति अथवा दास-व्यापार के पतन के कारण नए दासो की प्राप्ति अधिक दुर्लभ एव महगी हो गई तब एक अधिक मूल्यवान वस्तु की भाति दास की देख-रेख अधिक सावधानी के साथ की जाने लगी। तब सम्भवत. स्वामी को प्रत्येक श्रमिक के लिए

परिवार का पालन-पोषण कर सकने के लिए भी पर्याप्त व्यवस्था करनी पड़ती थी।

दूसरी कृषि-दासत्व प्रथा थी। यह प्रणाली सामन्तवाद के अधीन मध्ययुग मे योरोप के अधिकाश भागो मे तथा अन्य युगो के अन्तर्गत विश्व के विभिन्न क्षेत्रो मे थोडे बहुत अन्तर के साथ किसी न किसी रूप मे प्रचलित रही है। इस प्रथा मे प्रत्येक गाव मुख्यत आत्मनिर्भर था और ग्रामीण इकाई के बाहर व्यापार करना सामान्य नियम न होकर एक अपवाद-मात्र था। कृषि-दास व्यक्तिगत रूप मे स्वामी की सम्पत्ति नही होता था अपितु वह परम्परागत अधिकारो पर आधारित कुछ सेवाए अपने स्वामी को अर्पित करने के लिए बाध्य था। वह स्वामी की भू-सम्पत्ति से सलग्न रहता था और उससे अलग नही हो सकता था। प्राय भू-सम्पत्ति की बिक्री के साथ-साथ उसकी भी अदला-बदली हो जाती थी जैसे कि सत्रहवी एव अठारहवी शताब्दी मे जर्मनी मे तथा उन्नीसवी शताब्दी मे रूस मे भू-सम्पत्तियो को खरीदते या गिरवी रखते समय उनसे सलग्न दासो या "प्राणियो" को ध्यान मे रखकर सौदा किया जाता था। अथवा जैसे इगलैंड मे एडवर्ड प्रथम द्वारा अपने इटेलियन ऋणद ताओ, फ्रेस्कोबाल्डी (Frescobaldi), को शाही खानो का अनुदान अनिवार्य श्रमिको के रूप मे उनसे सलग्न "राजकीय खनिको" समेत किया गया था। कृषि-दास अपनी जीविका सामान्यत भूमि की ऐसी टुकडियो पर खेती करके प्राप्त करता था जिन पर उसे निज का परम्परागत अधिकार खाली समय मे अपने स्वामी के खेतों को जोतने, अथवा स्वामी के परिवार मे काम करने के दायित्व के बदले मे प्राप्त होता था। कृषि-दासो के पास जो भूमि होती थी और उनके पास अपना जो समय होता था वह स्वय के एव उनके परिवारो के पालन के लिए पर्याप्त होता था। भूमि जितनी अधिक उपजाऊ होती तथा श्रमिक जितने अधिक उत्पादनशील होते, कृषि-दासो को उतना ही कम भूमि क्षेत्र एव समय देने की आवश्यकता पडती थी, तथा स्वामी अपने कृषि-दासो के अतिरिक्त श्रम से उतना ही अधिक अतिरेक प्राप्त करने की स्थिति मे होता था। भू-सम्पत्ति का मूल्य इसी अतिरेक की मात्रा पर निर्भर होता था। दासो की पूर्ति सीमित होने की दशा मे दासो का पू जी-मूल्य भी उनकी सेवा से प्राप्त होने वाले अतिरेक पर ही निर्भर होता था।

तीसरी प्रणाली स्वतत्र कारीगरो या शिल्पकारो की है। ये लोग अपनी वर्कशाप मे स्वय के औजारो द्वारा कार्य करते है तथा स्वय अपने उत्पादन को बेचने की व्यवस्था करते हैं। कृषि के क्षेत्र मे ऐसे ही स्वतत्र किसान होते हैं जो अपने तथा अपने परिवार के श्रम से अपनी भूमि जोतते हैं। यह एक ऐसी प्रणाली है जिसके उदाहरण हमे प्राचीन युग तथा बाद की अवधि के मध्ययुगीय नगरो और आधुनिक समय मे अर्थात् प्राय. सभी युगो मे समान रूप से देखने को मिलते हैं। इसके अन्तर्गत

श्रमिक एक प्रकार से स्वयं अपना नियोक्ता होता है जो अपनी वस्तु का निर्माण करता है और उसे बेचता भी है और इस प्रकार अपने भरण-पोषण तथा माल की लागत के अतिरिक्त जो कुछ भी बचता है वह अतिरेक अथवा "शुद्ध आय" के रूप में स्वयं रख लेता है।

3 **मजदूरी प्रणाली की विशेषताएं**—यदि हम इन तीनों प्रणालियों की परस्पर और आधुनिक मजदूरी-प्रणाली से तुलना करें तो ज्ञात होगा कि इनकी भिन्नता का एक महत्वपूर्ण पहलू श्रमिक को प्राप्त होने वाली आर्थिक स्वतन्त्रता की सीमा की असमानता है जो स्वयं उस सम्बन्ध पर निर्भर करती है जो आर्थिक सम्पत्ति में वह रखता है—अर्थात् क्या वह स्वयं सम्पत्ति का स्वामी है या नहीं है अथवा वह स्वयं अपने स्वामी के अधीन सम्पत्ति का एक अंग मात्र है। मनुष्यों के बीच-सामाजिक समूहों अथवा वर्गों के बीच—सम्बन्धों की प्रकृति सम्पत्ति-सम्बन्धी अधिकारों के स्वरूप से निर्धारित होती है। दासवृत्ति अथवा कृषि-दासवृत्ति दोनों के अन्तर्गत श्रमिक की स्वतन्त्रता कानून द्वारा परिसीमित होती है. दासवृत्ति के अन्तर्गत वह पूर्ण रूप से स्वामी के आधीन होता है और कृषि-दासवृत्ति के अन्तर्गत उसकी स्वतन्त्रता वस्तुतः स्वामी के लिए विशिष्ट सेवाओं को सम्पन्न करने के दायित्व द्वारा संकुचित हो जाती है। किन्तु मजदूरी-प्रणाली के अन्तर्गत श्रमिक इस प्रकार के कानूनी बन्धनों के पाश में बंधा हुआ नहीं होता है। कानून की दृष्टि से वह स्वयं अपना स्वामी होता है। अपनी इच्छानुसार काम करने अथवा यदि वह चाहे तो एक स्वतन्त्र कारीगर की भांति अपना काम करने के लिए पूर्ण स्वतन्त्र होता है। चूंकि पूंजीपति जोकि एक वर्कशाप या फैक्टरी अथवा खेत का स्वामी होता है ऐसी दशा में अनिवार्य श्रम प्राप्त करने का अधिकार नहीं रखता—परम्परागत अधिकार के द्वारा अथवा खरीद के द्वारा—अतः वह बाजार भाव पर मूल्य चुका कर श्रमिक के समय को किराए पर लेने के लिये बाध्य होता है तथा इस प्रकार दी जाने वाली मजदूरी एवं बचे जाने वाले तैयार माल से प्राप्त मूल्य के अन्तर के द्वारा अपना मुनाफा कमाता है। इतिहास हमें बताता है कि श्रमिक की स्वाधीनता पर से समस्त कानूनी प्रतिबन्धों की समाप्ति मजदूरी प्रणाली के विकास के लिए प्रायः एक अग्रिम शर्त मानी गई है।

4 **आर्थिक स्वतन्त्रता**—एक शताब्दी पूर्व के सम्प्रापक अर्थशास्त्री केवल यह भी सन्तोष कर लेते थे कि जहां पूर्वकालीन प्रणालियों में अधिक बाध्यता थी उसके स्थान पर मजदूरी प्रणाली स्वतन्त्रता पर अधिक बल देती है। मजदूरी-प्रणाली ने इस निर्यातवादी समाज में यथासम्भव अधिकाधिक स्वतन्त्रता प्राप्त की। यह स्वतन्त्र कारीगर की प्रणाली के समान स्वाधीन होने के साथ-साथ उससे कहीं अधिक कार्य कुशल है। यह ठीक है कि मजदूरी पाने वाला श्रमिक अपने नियोक्ता के निरीक्षक (ओवरसीयर) के अनुशासन के अधीन फैक्टरी में कुछ घंटे कार्य करने के लिये बाध्य

होता है जबकि शिल्पकार या कारीगर स्वयं अपना स्वामी था और अपने समय मे अपने ढग से काम करने के लिये स्वतत्र था किन्तु ऐसा करते समय श्रमिक स्वय अपनी इच्छा और स्वतन्त्र अनुबन्ध के द्वारा अपनी सहमति देता है, और यदि उसे प्रदान की जाने वाली मजदूरी उसके द्वारा ग्रहण किए गए दायित्व की अप्रियता का उचित पारितोषिक नही होती है तो वह काम की शर्तो को अस्वीकार करने मे स्वतन्त्रतापूर्वक अपनी इच्छा का प्रयोग कर सकता है। स्वतन्त्र बाजार मे मजदूरी किए गए कार्य का उसी प्रकार उचित मूल्य होती है जिस प्रकार मुनाफा, एक नियोक्ता के लिये उसके द्वारा सम्पन्न सेवाओ का आर्थिक मूल्य होता है और यह तथ्य कि कोई जीविका का एक साधन चुनता है तो कोई दूसरा सामान्य श्रम विभाजन का एक ऐसा विशिष्ट उदाहरण है जो राष्ट्री की सम्पत्ति मे वृद्धि करने मे सहायक हुआ है।

फिर भी यह दृष्टिकोण पूरी बात जाहिर नही करता और परीक्षण करने पर यह इतना अधिक एक पक्षीय चित्र प्रतीत होता है कि कुछ अशो मे उसे वास्तविकता से बहुत भिन्न समझा जा सकता है। वस्तुत किसी ऐसी प्रणाली की कल्पना की जा सकती है जिसमे समान और पक्षपात रहित अवसर प्राप्त हो (जैसा कि प्राय इसमे निहित माना जाता है) तथा जिसमे अधिकाश व्यक्तियो के समक्ष उनके जीवन काल के किसी चरण मे यह विकल्प रहा हो कि किसी पडोसी के लिए कार्य किया जाय अथवा एक नियोक्ता के रूप मे स्वय का कोई कारोबार स्थापित किया जाय। कदाचित इससे बहुत कुछ मिलती-जुलती पद्धति आज भी किसी खेतिहर गाव मे देखी जा सकती है, अथवा प्रारम्भिक मध्यकालीन नगर मे पाई जाती थी। किन्तु इस आदर्श चित्रण मे और आधुनिक समाज मे कोई समानता नही है। आधुनिक औद्योगिक सभ्यता की वास्तविक मजदूरी-प्रणाली मे श्रमिक का विकल्प वस्तुत अत्यन्त सकुचित हो गया है। यह सही है कि विकल्प की यह सीमा अब पहले की कानूनी सीमा न होकर एक आर्थिक सीमा है जो अपने वर्तमान स्वरूप मे उतनी ही प्रभावशाली है जितनी कि किसी समय कानूनी अनिवार्यतायें या मजबूरिया थी, जिन्हे इसने उखाड फेंका है। आधुनिक पूँजीवाद की दशाओ मे यह सीमा इस तथ्य मे निहित है कि श्रमिक सम्पत्ति-विहीन वर्ग का एक सदस्य है—यह एक ऐसा तथ्य है जो उसके विकल्प की स्वतन्त्रता को सकुचित कर देता है और उसे जीविका के केवल उन्ही साधनो तक सीमित करता है जिनमे भूमि या पूँजी के स्वामित्व की आवश्यकता नही होती तथा अधिकाश अवस्थाओं मे अधिक शिक्षण अथवा प्रशिक्षण की भी आवश्यकता नही होती। दूसरे शब्दो मे 'डिक व्हिटिंगटन्स' (Dick Whittingtons) जैसे कुछ भाग्यशाली व्यक्तियो को छोडकर यह नियम के बतौर उसके विकल्प का मजदूरी के बदले अपने शारीरिक श्रम को किराये पर देने तक ही सीमित रखता है। इतिहास कि किसी भी ऐसी अवस्था मे जिसमे एक मजदूरी प्रणाली पाई गई है, ऐसी प्रणाली के विकास से पूर्व व्यक्तियो के ऐसे वर्ग का उदय हुआ है जिनके पास एक

स्वतन्त्र कारीगर अथवा कृषक की भांति जीविकोपार्जन के साधनों का अभाव था अथवा दूसरे शब्दों में यह कहा जा सकता है कि यदि थोड़ी पूंजी वाले कारीगर स्वयं अपने मुनाफे के लिये कारोबार करने के इच्छुक भी थे तो उनका क्षेत्र अत्यन्त सकीर्ण था।

यहां यह तर्क अवश्य दिया जा सकता है कि केवल अवसरों की ऐसी सकीर्णता श्रमिक की स्वतन्त्रता में किसी भी महत्वपूर्ण रूप में बाधक नहीं है। मानव इच्छानुसार कोई कार्य करने के लिये कभी भी स्वतन्त्र नहीं रहा है, प्रकृति ने सदैव इसमें बाधा प्रस्तुत की है तथा उसने स्वयं उसके विकल्प को परिसीमित किया है। वैकल्पिक अवसरों को मापा नहीं जा सकता और न विभिन्न व्यक्तियों अथवा विभिन्न युगों के मध्य इनकी तुलना ही की जा सकती है। "स्वाधीन एवं भद्र जंगली व्यक्ति' को कई प्रकार से आधुनिक श्रमिक की अपेक्षा बहुत कम अवसर प्राप्त थे जिस प्रकार कि पूर्वी योरोप अथवा चीन के कृषक को डेट्राइट के फोर्ड कर्मचारी की तुलना में बहुत कम अवसर प्राप्त हैं। यदि स्वतन्त्रता" शब्द के अन्तर्गत "आर्थिक अवसर' जैसे शब्द में प्रगट होने वाली अनेक अस्पष्ट बातों को भी सम्मिलित कर लिया जाय तो क्या इस प्रकार की तुलनाओं में कोई सार निकल सकता है ?

यद्यपि स्वतन्त्रता कोई ऐसी वस्तु नहीं है जिसे मात्रा की दृष्टि से नापा जा सके, किन्तु फिर भी इस शब्द से कुछ न कुछ ऐसा अर्थ तो प्रगट होता ही है जिसके अधिक या कम होने की तुलना की जा सकती है। इसके अतिरिक्त जब ऐसी अनेक बाहरी सीमाएं—विशेषकर आर्थिक अथवा सामाजिक किस्म की विद्यमान हों तब इस शब्द को किसी व्यक्ति के कार्यों पर होने वाली कानूनी सीमाओं तक ही बाधना स्पष्टतः अस्वाभाविक होगा। किन्तु तथ्यों को किसी क्रम या शृंखला में इस प्रकार विन्यास करने के लिये जिसमें कम या अधिक की तुलना की जा सके, यह आवश्यक होगा कि तुलना किये जाने वाले तथ्यों में, उस पहलू के अतिरिक्त जिसकी तुलना होती है अन्य सब दृष्टिकोणों से निकट की समानता हो। किन्तु आज के व्यक्तियों एवं अनेक शताब्दियों पूर्व के व्यक्तियों की स्वतन्त्रता की इस प्रकार तुलना करना तब तक सम्भव नहीं होगा जब तक कि उनके आर्थिक कल्याण के कुल योग को इसमें सम्मिलित न किया जाय। किन्तु यह मानकर कि लाभ (अथवा भार) समस्त समाज में सबके लिये बराबर हैं, किसी भी युग या समाज में उन्हें प्राप्त अवसरों की असमानता की दृष्टि से, व्यक्तियों के एक वर्ग की दूसरे वर्ग से तुलना करना सर्वथा सम्भव है। आधुनिक मजदूर के सम्बन्ध में उसकी स्वतन्त्रता पर एक विशिष्ट मर्यादा जिससे हम सरोकार है वह जीविका प्राप्त करने में उसकी अयोग्यता है, क्योंकि ऐसा वह जिनके पास उसको काम पर लगाने के लिए भूमि अथवा पूंजी है उनसे रोजगार का अनुबन्ध करके ही कर सकता है। उसकी स्थिति की तुलना उस स्वतन्त्रता के

सम्बन्ध मे जो यह प्रदान करती है उसके नियोक्ता–वर्ग की स्थिति से करना निश्चय ही सम्भव है, और इस सदर्भ मे यही एक महत्वपूर्ण बात है। उसके नियोक्ताओ को (क्योकि वे सम्पत्तिवान हैं) उससे सौदा तय करने की इतनी व्यग्रता या गरज नही होती, जितनी कि उसे होती है।[1] यदि उन्हे अधिक लाभदायक प्रतीत हो तो वे वेतन-भोगी बन सकते हैं और इस प्रकार सम्भवत ऐसे अन्य व्यवसायो तक पहुच सकते हैं जिनमे वह साधनो के अभाव मे वचित रहता है, वस्तुत उसके लिए कठिनाई पार करके स्वय नियोक्ता बनना अत्यन्त कठिन होता है जब तक कि ऐसा किसी दुर्लभ भाग्यचक्र द्वारा अथवा व्यापार के किसी सक्षिप्त मार्ग के द्वारा ही सम्भव न बन जाय। अत अपनी अपेक्षाकृत कम आर्थिक स्वतन्त्रता एव अपने अति सीमित विकल्प के कारण श्रमिक बहुत हद तक और एक अधिक अर्थपूर्ण रूप मे, पू जीपति पर निर्भर होता है जितना कि पू जीपति उस पर नही होता है – यह एक ऐसा तथ्य है जिसका आधारभूत प्रभाव दोनो पक्षो के बीच होने वाले मजदूरी-अनुबन्ध पर स्पष्ट रूप से पडेगा।

यह निर्भरता जिसका स्वरूप अब वैधानिक न रहकर आर्थिक हो गया है, एक ऐसी निर्भरता होगी जो किसी एक श्रमिक की किसी नियोक्ता-विशेष पर नही होगी, बल्कि सामान्यत श्रमिको की नियोक्ताओ अथवा होने वाले नियोक्ताओ के समस्त वर्ग पर होगी। इसके साथ ही श्रमिको तथा किसी नियोक्ता विशेष के मध्य होने वाले सम्बन्धो मे भी यह प्रतिबिम्बित होगी। व्यापक स्तर पर यह निर्भरता विकसित मजदूरी-प्रणाली की एक ऐसी विश्वव्यापी विशेषता प्रतीत होती है कि यदि ऐसी प्रणाली की व्याख्या करते समय, इसे इसकी परिभाषित विशेषताओ मे से एक माना जाय तो उचित होगा। कुछ भी हो, यह प्रगट रूप मे आधुनिक औद्योगिक पू जीवाद से अन्तर्गत मजदूरी-प्रणाली की एक विशेषता तो है ही।

इस बात से इन्कार नही किया जा सकता कि मजदूरी लेकर कार्य करने के उदाहरण ऐसी परिस्थितियो मे भी मिल सकते हैं जिनमे इस प्रकार का पराधीन वर्ग विद्यमान नही होता है। ऐसे उदाहरण भी मिल सकते हैं जिनमे अनेक व्यक्तियो ने अपने स्वय का काम करने के बजाय दूसरे के लिये कार्य करना अधिक लाभदायक समझा, और वह भी इतने नीचे मजदूरी के स्तर पर जिससे उनके नियोक्ता के लिये मुनाफे के रूप मे काफी अतिरेक शेष रहा। ऐसी परिस्थिति, सगठन करने, उत्पादन का प्रबन्ध करने, और इस प्रकार अपने व्यवसाय को सफल बनाने के लिये विभिन्न व्यक्तियो के साहस, पहल और स्वाभाविक योग्यता मे भारी असमानताओ का परि

---

1. तकनीकी भाषा में इसे यह कहकर व्यक्त किया जा सकता है कि ये दोनो मूलत 'प्रतियोगिता–विहीन वर्गो" का निर्माण करते है और उनमे से एक के लिये आय की सीमान्त उपयोगिता दूसरे की अपेक्षा कही अधिक होती है। यह भेद उन शर्तो का निर्धारण करता जिनके आधार पर वे सौदा तय करने के लिए सहमत होते है।

णाम हो सकती है। किन्तु ऐसा सम्भव नही प्रतीत होता कि केवल अन्तर्जात-योग्यता के भेद ही इतने प्रबल हो जाय कि मजदूरी लेकर कार्य करने के प्रति इतना व्यापक और दुराग्रहपूर्ण आकर्षण इस भांति उत्पन्न कर सके कि यह प्रथा उत्पादन की समस्त शाखाओ मे प्रसारित हो जाय तथा प्रत्येक व्यवसाय म उत्पादन का मुख्य तरीका बन जाय। जब तक विभिन्न सामाजिक वर्गों के बीच आर्थिक हितो एव अवसरो की असमानताओ का विकास नही हो जाता तब तक इस प्रणाली से शायद यह आशा नही की जा सकती कि यह समस्त उद्योग मे व्याप्त हो जायगी और इस प्रकार सर्वव्यापक हो जायगी, फिर इससे यह आशा तो और भी कम लगाई जा सकती है कि यह एक ऐसे बिन्दु पर पहुच जायगी जहा एक नियोक्ता के पास सैकडो हजारो की तादाद में श्रमिक हो। निश्चय ही ऐसा कोई प्रमाण नही है कि आधुनिक मजदूरी प्रणाली का ऐतिहासिक विकास मुख्यत इस प्रकार की किसी रीति से हुआ। इसके विपरीत हमे ऐसा प्रतीत होता है कि विभिन्न वर्गों के मध्य महत्वपूर्ण सामाजिक असमानताओ के पूर्व विकास के फलस्वरूप मजदूरी पर आश्रित श्रमिक तथा स्वामी के सम्बन्ध औद्योगिक प्रणाली के सर्वव्यापी प्रतीक बन गये। ये ऐसी सामाजिक असमानतायें थी जिनमे आर्थिक अवसर की भिन्नतायें थी और इनमे भी सम्पत्ति के स्वामित्व सम्बन्धी असमानतायें प्रमुख थी।

5 **सर्वहारा-वर्ग का उदय** – इस प्रकार यह कहा जा सकता है कि पूर्णत परिपक्व मजदूरी प्रणाली के उदय के लिये दो बाते आवश्यक हैं। प्रथम, उन कानूनी प्रतिबन्धो की समाप्ति हो जो किसी विशिष्ट नियोक्ता से श्रमिक को बाधते हैं। द्वितीय ऐसे सम्पत्तिविहीन अथवा सर्वहारा-वर्ग का विकास हो, जो मजदूरी पर अपनी सेवाए उपलब्ध करने के लिए उद्यत हो क्योकि उसके पास जीविका का अन्य कोई वैकल्पिक साधन नही है। प्रथम स्थिति के विकास के बिना श्रमिक खुले बाजार म अपने श्रम का विक्रय करने वाला मजदूर न रहकर, केवल एक दास अथवा कृषिदास ही रहेगा। दूसरी के बिना नियोक्ताओ के लिये मजदूरी पर आश्रित श्रम के आधार पर विशाल पैमाने के उत्पादन का सगठन करना सामान्यत लाभपूर्ण न हो सकेगा। इस देश म प्रथम परिवर्तन अपेक्षाकृत जल्दी घटित हुआ, जबकि पन्द्रहवी शताब्दी म उस प्रथा का प्रसार हुआ जिसके अन्तर्गत कृषिदासो को अपनी बगार को धनराशि लेकर अथवा उन्हे प्राप्त भूमि के किराये या लगान के बदले "परिवर्तित" (commute) कराने की अनुमति प्राप्त हुई। अन्य देशो म यह परिवर्तन काफी बाद तक नही हुआ-जैसे कि जर्मनी म सन् 1806 से 1812 के बीच विभिन्न राज्यो म वैधानिक उपायो के द्वारा कृषिदासत्व का उन्मूलन किया गया, तथा सबसे बाद मे यूरोप के बडे देशो, जैसे रूस म सन् 1861 मे कृषिदासो की समाप्ति राजाज्ञा द्वारा की गई।

द्वितीय परिवर्तन विभिन्न रीतियो मे घटित हुआ। अशत यह परिवर्तन जनसख्या की इतनी स्वाभाविक वृद्धि से हुआ, जो उस सख्या से अधिक थी, जिसके

लिए भूमि की व्यवस्था की जा सकती थी चू कि माग की तुलना मे विद्यमान भूमि दुलर्भ थी, इसके स्वामियो के हाथो मे इसका मूल्य बहुत बढ गया, तथा धीरे-धीरे यह केवल मूल्य देकर ही प्राप्त की जाने लगी। ऐसी भूमि जो पहले परम्परागत अधिकार के द्वारा छोटे काश्तकारो के अधिकार मे थी अथवा उनके द्वारा प्रयुक्त होती थी, की घेराबन्दी (Enclosure) के द्वारा और भूमि के बडे स्वामियो को हस्तान्तरण के द्वारा इस प्रक्रिया मे और अधिक गति आई। ऐसा इगलैंड मे घेराबन्दियो की एक श्रृ खला के रूप मे हुआ जिन्हे भेड पालन को सुगम बनाने के लिये किया गया और जिसने "हट्टे कट्टे भिखारियो" का एक वर्ग उत्पन्न कर दिया जिसके बारे मे ट्यूडर युग मे पर्याप्त उल्लेख मिलता है और कृषि के आधुनिक तरीको को प्रोत्साहित करने के उद्देश्य से सन् 1750 से सन् 18.0 के बीच लागू किये गये अनेक घेराबन्दी-अधिनियमो के द्वारा यह परिवर्तन सम्भव हुआ। जर्मनी मे (डेन्मार्क के विपरीत) भूसामन्तो को बेगारी सेवाओ से वचित करने के बदले क्षतिपूर्ति के रूप मे, कृषि दासत्व की समाप्ति के समय बडे पैमाने पर ऐसी ही घेराबन्दी की गई। अफ्रीका के कुछ भागो मे आज यही प्रभाव कबीलो के गिरोह मे रहने वालो की सख्या मे कमी करके अथवा यदि कोई निवासी बाहर रहकर मजदूरी पर काम न करके कबीले के गिरोह मे ही रहता है तो उस पर कुटीर-कर अथवा व्यक्ति-कर (Poll Taxes) लगा कर उत्पन्न किया जा रहा है।

साथ ही नगरो मे कुशल कारीगरो या व्यापारियो के सघ ऐसी दुहरी प्रक्रिया के द्वारा धीरे-धीरे पृथक अस्तित्व प्राप्त कर रहे थे, जिसम एक ओर तो राजपत्र (चार्टर) के आधार पर सघ के सदस्यो के अतिरिक्त अन्य व्यक्ति के लिये कुशल शिल्पी की भाति व्यवसाय करना अवैध था, तथा दूसरी ओर भारी प्रवेश शुल्को, योग्यताओ तथा नौसिखियो के लिये कठोर नियमो के द्वारा सघ मे नये व्यक्तियो के प्रवेश पर प्रतिबन्ध था। सौलहवी शताब्दी तक इगलैण्ड मे देश के थोक एव फुटकर व्यापार का अधिकाश भाग धनी व्यापारियो के अपेक्षाकृत एक छोटे दायरे के नियन्त्रित एकाधिकार मे था, जबकि नगरो मे निम्नस्तर पर श्रमिको का एक ऐसा विकासशील वर्ग विद्यमान था जिसके लिये किसी शिल्प-सघ मे प्रवेश पाने की अथवा कुशल शिल्पी की हैसियत से स्वय को स्थापित करने की अत्यन्त सीमित सम्भावना थी। इस सकीर्ण एकाधिकार की आशिक प्रतिक्रिया सत्रहवी शताब्दी मे हुई जब कुछ पू जी के स्वामियो ने नगरो के शिल्प सघो के इन कठोर नियमो से बचने के लिये, उस प्रणाली के अन्तर्गत जिसे आगे चलकर घरेलू प्रणाली (Domestic System) कहा जाने लगा छोटे-छोटे कारीगरो को गावो मे ही पूरा करने के लिये कार्य प्रदान करना आरम्भ किया। इस प्रकार कोई भी व्यक्ति जिसके पास मकान, करघा, या बुनाई का चरखा खरीदने के लिए पर्याप्त पू जी होती थी, अब देहात मे कारीगर की हैसियत मे कारोबार स्थापित कर सकता था। किन्तु ये ग्रामीण कारीगर स्वाधीन

होने के बजाय स्वय पराधीन होन गये। ये उन "व्यापारी विनिर्माताओं" (Merchant manufacturers) पर, जैसाकि उन्हें सबोधित किया जाता था, निर्भर थे जो उन्हें कार्य प्रदान करते थे, जैसे कि आज भी 'वेस्ट एण्ड टेलरिंग हाउसेज' घर का काम करने के लिए अथवा छोटे सिलाई वर्कशापो म पूरा करने के लिए काम बाटते हैं। प्राय घरेलू कारीगर थोडी पूजी वाला व्यक्ति होने के कारण न तो अपनी वस्तुओं को बचने का स्वय दायित्व ले सकता था और न एक छोटे वर्कशाप को सचालित करने के अलावा अन्य कोई कार्य कर सकता था। कच्चा माल प्राय उसे "व्यापारी निर्माता" द्वारा पेशगी के तौर पर दिया जाता था, जो यथा समय उससे तैयार माल एकत्रित करता था और किये गये कार्य का मूल्य चुकाता था। कुछ दशाओं म पूजीपति के अधीन कारीगर अपन औजार भी उससे किराये पर ले लेते थ, जैसाकि बिनाई-चौखटे म जहा वे ऐसे चौखटे भाडे पर लेते थे। जैसे-जैसे समय गुजरता गया उनम से अनेक पूजीपति द्वारा प्रदान की गयी साख के भरोसे अधिकाधिक निर्भर होते गये और इस प्रकार उसके ऋणी हो गये तथा किसी एक नियोक्ता म सर्वथा बध गये जैसा कि हस्तचालित औजारो के व्यापार मे सामान्यत प्रचलित था। दूसरे शब्दो मे, इन कारीगरो म से अनेक वस्तुत मजदूरी करने वाले बन गये, जैसा कि हम कृषि प्रधान देशो मे प्राय पाते हैं (जब तक इसे रोकने के लिये विशेष सस्थाओं की स्थापना न की गई हो) कि ऋणग्रस्तता तथा व्यापारियों और साहूकारो को अपनी भूमि गिरवी रख देने पर कृषकों के एक भाग के लगातार निधन हो जाने के फलस्वरूप सम्पत्तिविहीन वर्ग का विकास हो जाता है। इस प्रक्रिया म अन्तिम चरण के रूप म शक्तिचालित मशीनो तथा कारखानो मे उत्पादन का प्रादुर्भाव हुआ जिसने प्रतियोगिता करके बुनकरो और हाथ के औजार निर्माताओं की जीविका को छीन लिया, तथा जिनके पास स्वय कारखाना स्थापित करने के साधन थे, उनको छोडकर अन्य सबको नगरो मे जाने के लिए तथा मजदूरी पर रोजगार ढूढने के लिय बाध्य कर दिया।

6 निर्भरता की विभिन्न सीमायें—मजदूरी-प्रणाली के अन्तर्गत भी श्रमिक की आर्थिक स्वतन्त्रता मे बहुत कुछ अन्तर हो सकता है। इसके विपरीत जहा श्रमिक ऐसे श्रमिक सघो मे सगठित हैं जिनके पास पर्याप्त कोष हैं अथवा जहा उन्होंने ऐसे सफल सहकारी सगठन बना लिये है जिनसे ऋण लेने अथवा खाद्य-पदार्थ खरीदने मे विशेष सुविधायें प्राप्त कर सकते हैं, अथवा जहा अपने राजनीतिक प्रभाव के द्वारा वे मजदूरो के लिये विशेष रूप से अनुकूल अधिनियमो को पास करवाने मे सफल हो सकते हैं, तो एक वर्ग के रूप मे मजदूरो की आर्थिक कमजोरी बहुत हद तक दूर की जा सकती है। इसके अलावा अल्पावधि मे किसी उद्योग विशेष मे नियुक्त श्रमिक इस बात से फायदा उठा सकते हैं कि उनके नियोक्ताओं ने महगी मशीनो पर भारी पूजी का विनियोग किया है और उसे वे बेकार रहने देने के लिए अनिच्छुक हैं अथवा

यह कि उनके पास नाशवान कच्चे माल का स्टाक है, अथवा उन्हे इस बात का भय है कि कारखाने को बन्द रखने से उनके मूल्यवान व्यापारिक सम्बन्धों को खतरा उत्पन्न हो जायगा।

इसके विपरीत, प्राय ऐसी दशायें, जिनका स्वरूप नितात आर्थिक है, पायी जाती हैं जो श्रमिक की स्वतन्त्रता को असाधारण रूप से सीमित करती हैं, तथा चरम दशाओ म उसके काम करने के विकल्प को वस्तुत किसी एक नियोक्ता या *नियोक्ताओं के एक सकीर्ण वर्ग तक ही सीमित कर देती हैं।* एक श्रमिक के मार्ग मे जबकि वह व्यक्तिगत रूप मे किसी नियोक्ता से मोल भाव करता है, तथा यदि वह किसी श्रमिक सघ द्वारा समर्थित नही है, तो वैकल्पिक सेवा कार्यों क बारे मे सूचनाओ क अभाव मे अथवा अधिक उत्तम धन्धे की खोज म स्थान-स्थान पर जाने के साधनो के अभाव मे प्राय अनेक कठिनाइया आयेंगी, अर्थात् कदाचित वह इसके लिये उससे अधिक उत्तम स्थिति म नही होगा जिसमे कि नियोक्ता होगे, जो टेलीफोन के द्वारा पूछताछ कर सकते हैं अभिकर्ताओ तथा फोरमैनो की सेवाओ का उपयोग कर सकते हैं, और आवश्यकता होने पर नई भरती के लिये अन्य नगरो में उन्ह भेज सकते हैं। अत श्रमिक का विकल्प केवल उन्ही सेवा कार्यों तक सीमित रहेगा *जिनका उसे ज्ञान है और जो आसपास के स्थानो में उपलब्ध है।* कुछ दशाओ मे यह देखा जाता है कि नियोक्ता अपने कर्मचारियो के निवासगृहो का स्वामी होता है और इस प्रकार वह उनके लिए मकान मालिक भी हो जाता है और ऐसी दशा म अपने कर्मचारियो के जीवन पर नियोक्ता का नियन्त्रण बहुत कुछ उसी तरह का होता है जैसा कि प्राचीन काल मे सामन्तो का होता था। आज से सौ या इससे भी कुछ अधिक वर्ष पहले के नवीन फैक्टरी नगरो मे आम तौर से यही दशा थी। ग्रामीण क्षेत्रो मे कृषि-श्रमिको के सलग्न-कुटीर वाले (tied cottage) तथा खनिज प्रधान वाले गावो मे जिनमें खनिको ने "कम्पनियों के मकान" किराये पर लिये थे, यह प्रथा (हाल के वर्षों तक) प्रचलित रही। 'जिन्स-अदायगी पद्धति" (truck system) के अन्तर्गत जिसका वर्णन हम आगे तृतीय अध्याय मे करेंगे, नियोक्ता अपने श्रमिको को प्राय ऐसे साधिकार प्रमाण-पत्र या "वाउचर" देकर मजदूरी चुकाते थे जो उनके द्वारा सचालित स्टोर म मान्य थे—जैसा कि डिजराइली ने भी सिबिल (Sybil) मे टार्मी-शाप (Tommy-Shop) के विषय मे उल्लेख किया है। अमेरिका के खनिज-प्रधान नगरो म प्राय यह देखा जाता है कि लगभग समस्त नगर का स्वामित्व कम्पनी के पास होता है-यहा तक कि मजिस्ट्रेट एव पुलिस आदि भी उससे सलग्न होते हैं। जब ऐसी दशा हो तो कर्मचारी को अन्य वैकल्पिक व्यवसाय मे जाने अथवा नियोक्ता से किये गये अनुबन्ध की शर्तों का पालन करने से इन्कार करने से रोका जा सकता है, क्योकि ऐसा करने पर उसे यह भय रहता है कि वह अपने आवास-गृह से वचित हो जायगा, अथवा दूसरी स्थिति मे, उसे मजदूरी इस रूप म

चुकायी जाती है कि वह उस सबसे सस्ते या अनुकूलतम बाजार में खर्च करने में असमर्थ रहेगा। श्रम की अदला-बदली (labour turnover) को कम करने तथा एक श्रमिक को किसी संस्था विशेष के साथ बांधने का प्रभाव भी जैसा कि अमेरिका में प्राय सुना जाता है लगभग ऐसा ही होता है। इसी प्रकार से श्रमिकों की स्थिति प्राय उस समय भी कमजोर हो जाती है जब बहुत अधिक बेकारों के पाये जाने के कारण नियोक्ता की स्थिति ऊंची हो जाती है क्योंकि वह अपने श्रमिकों में से किसी के भी रिक्त स्थान को सरलता से नई भरती करके भर सकता है। इसके अतिरिक्त यदि उद्योग किसी एकाधिकार द्वारा नियन्त्रित है तो श्रमिक जो उस व्यवसाय के लिये विशेष योग्यता रखता है, वस्तुत उसी एक नियोक्ता के साथ बंध जायगा—यह स्थिति उस बाजार-मूल्य के सन्दर्भ में जिसे मजदूर अपने श्रम के बदले में प्राप्त कर सकते हैं, उस अवस्था के समानान्तर होगी जिसमें नियोक्ताओं के बीच किन्हीं निर्धारित शर्तों पर ही नौकरी देने के विषय में कोई समझौता होता है।

7 मजदूरी तथा शुद्ध उत्पादन—सम्पत्ति के स्वामियों के दृष्टिकोण से किसी मजदूरी-प्रणाली के अन्तर्गत प्रमुख लागत उस मजदूरी से निर्मित होती है जो आवश्यक श्रम-पूर्ति को प्राप्त करने के लिये चुकायी जाती है। किसी नियोक्ता विशेष के लिये, वास्तव में लागत के अन्तर्गत उसके द्वारा खरीदा जाने वाला कच्चा माल तथा ईंधन, मशीनों की "घिसावट" उसके द्वारा दिया जाने वाला किराया तथा उसके द्वारा ली गई ऋण-पूंजी पर प्रदेय ब्याज आदि को भी सम्मिलित किया जायगा। उसका पूंजी-व्यय मशीनों की खरीद (जो प्राय. स्थायी पूंजी के नाम से सम्बोधित होता है) तथा कच्चे माल और श्रम-शक्ति की खरीद (जिसे प्राय परिचलन पूंजी कहा जाता है) में विभाजित होगा। किन्तु जहां तक सम्पूर्ण प्रणाली का सम्बन्ध है, वह मूलभूत स्थिति, जो पूंजी के विनियोग के क्षेत्र को निर्धारित करेगी, श्रम-शक्ति की प्रचुरता और सम्पादन होगी। उत्पादन के प्रत्येक चक्र में मशीनों की घिसावट की पूर्ति के लिये तथा श्रम-पूर्ति की "घिसावट" को पूरा करने के लिये मजदूरी के रूप में कुल उत्पादन के एक भाग को अलग रखने के पश्चात् अतिरिक्त अथवा शुद्ध उत्पादन रह जायगा। यह अतिरिक्त नियोक्ताओं की आय तथा सम्पत्ति के समस्त स्वामियों, एकाधिकारों और विशेषाधिकारों आदि के प्रतिफल का प्रतिनिधित्व करेगा, तथा इस अतिरिक्त का उपयोग और अधिक बड़े पैमाने पर प्रणाली का विस्तार करने के साधनों को एकत्रित करने में किया जायगा, ताकि ऐसा करके भावी उत्पादन-चक्र को पहले की अपेक्षा अधिक विशाल बनाया जा सके जैसा कि श्रीमती मार्सेट (Mrs Marcet) ने अपनी 'कनवर्सेशन्स आन पालिटिकल इकानामी' नामक पुस्तक में एक शताब्दी पूर्व स्पष्ट रूप में उल्लेख किया है, "यदि श्रमिक के द्वारा उत्पादित मूल्य उसके द्वारा उपयोग किये गये मूल्य से अधिक है, तो यह आधिक्य उसके नियोक्ता की आय का निर्माण करेगा—यहां पर यह ध्यान देने योग्य है कि

निर्धनो की नियुक्ति के अलावा अन्य किसी साधन से आय प्राप्त नही की जा सकती है—धनी एव निर्धन दोनो एक दूसरे के लिये आवश्यक है यह वस्तुत उदर और अवयवो की काल्पनिक गाथा (Fable of the belly and the limbs) के समान है, धनवानो के बिना निर्धन भूखो मरेगे, और निर्धनो के बिना धना अपनी जीविका के लिये परिश्रम करने के लिये बाध्य होंगे।"[1]

इससे यह निष्कर्ष निकाला जा सकता है कि मालिको की स्थिति उतनी ही अधिक सम्पन्न होगी जितनी कि श्रम की खरीद मे व्यय की जाने वाली लागत कम होगी—उतनी ही कम सभावनाए इस बात की होगी कि उन्हे "अपनी जीविका के लिये परिश्रम करने के लिए बाध्य होना पडे"। जैसा कि हम बाद मे देखेंगे इसका तात्पर्य अनिवार्यत यह नही है कि यदि मजदूरी की दरे न्यूनतम हो तो उनकी सम्पन्नता अधिकतम होगी। किन्तु इसका अर्थ यह अवश्य है कि यदि मजदूरी सकल उत्पादन के अनुपात मे कम है तो सम्पत्तिवान वर्ग कुल मिलाकर (अन्य बातें समान रहने पर) लाभ मे रहेगा क्योकि ऐसी दशा मे अतिरेक अथवा शुद्ध उत्पादन के रूप मे उपलब्ध अनुपात अधिक होगा तथा पूजी के विनियोग के लिये अधिक अनुकूल एव व्यापक अवसर उपलब्ध होगे। सामान्यत यह सत्य होगा कि श्रमिक-वर्ग जितना ही अधिक निर्भर एव परिणामस्वरूप अधिक आज्ञाकारी होता है और श्रम की पूर्ति (या सम्भाव्य पूर्ति) विनियोग के व्यापक व बढते हुए क्षेत्र को देखते हुए जितनी ज्यादा होती है, श्रम उतना ही अधिक सस्ता होता है। कुछ ऐतिहासिक प्रमाणो मे यह सकेत मिलता है कि इतिहास मे जब भी ऐसा समय आया जबकि श्र की पूर्ति (या सभावित पूर्ति) (इसका उपयोग करने के लिए उपलब्ध पूजी के अनुपात मे) प्रचुर रही हो तो श्रम कानूनी मर्यादाओ एव प्रतिबन्धो से मुक्त था, तथा जब श्रम की पूर्ति परिमित थी तो स्थिति उसके विपरीत थी। किन्तु ऐसे किसी भी सामान्य कथन मे कुछ भी सच्चाई हो, यह स्पष्ट है कि श्रम-बाजार की सामान्य दशा श्रम व पूजी की सापेक्ष आर्थिक स्थिति और शक्ति पर अपना प्रभाव डालते हुए सम्पूर्ण आर्थिक प्रणाली के व्यवहार अव प्रचलित आर्थिक एव सामाजिक नीतियो को निर्धारित करने मे महत्वपूर्ण भाग अदा करेगी।

---

1 पृष्ठ 87–8

मज़दूरी एवं जीवन-स्तर

2

1 भिन्नतायें एवं परिभाषायें : इससे पहले कि श्रमिक वर्ग के जीवन-स्तर से सम्बद्ध मजदूरी के प्रश्न और मजदूरी में होने वाले परिवर्तनों पर विचार किया जाय, कुछ प्रारम्भिक भिन्नताओं को स्पष्ट करना महत्वपूर्ण होगा।

प्रथम, एक निर्धारित अवधि (जैसे एक सप्ताह, माह, अथवा वर्ष) में समस्त राष्ट्र के कुल मजदूरी बिल में होने वाले परिवर्तनों और प्रति व्यक्ति औसत आय में होने वाले परिवर्तनों के बीच विद्यमान भिन्नता को ध्यान में रखना महत्वपूर्ण है। यदि मजदूरी पर काम करने वाले श्रमिकों की संख्या अपरिवर्तित रहती है तो ऐसी दशा में प्रथम प्रकार का परिवर्तन दूसरे में समान परिवर्तन का कारण बन जायगा। किन्तु जब कार्यशील जनसंख्या में परिवर्तन हो रहा हो तो कुल मजदूरी-बिल और प्रति-व्यक्ति आय में स्पष्टतया विभिन्न अंशों में परिवर्तन होगा और ऐसा परिवर्तन भिन्न दिशाओं में भी हो सकता है (उदाहरण के लिये, यदि रोजगार-प्राप्त श्रमिकों की संख्या में 20 प्रतिशत की वृद्धि हो जाती है और कुल मजदूरी-बिल में 20 प्रतिशत से कम वृद्धि होती है, तो प्रति व्यक्ति आय में वस्तुतः कमी हो जायगी)।

द्वितीय, उपर्युक्त अर्थों में से किसी एक में मजदूरी में होने वाले निरपेक्ष परिवर्तन (absolute change) और कुल उत्पादन अथवा राष्ट्रीय आय की

तुलना मे मजदूरी मे होने वाले परिवर्तन मे भेद करना कभी-कभी महत्वपूर्ण होता है। यहा हमारा तात्पर्य कुल-योग मे मजदूरी के सापेक्ष अथवा आनुपातिक भाग से है और यह हो सकता है कि राष्ट्र के मजदूरी बिल मे वृद्धि के साथ प्रति व्यक्ति आय मे भी वृद्धि हो जाय, किन्तु कुल राष्ट्रीय-आय मे और अधिक तीव्र गति मे वृद्धि होने के कारण मजदूरी के सापेक्ष भाग मे कमी हो जायेगी। जब हम घटनाओ की दीर्घकालीन प्रवृत्ति का अनुमान लगा रहे हो, तो मजदूरी के रूप मे दिये जाने वाले सापेक्ष भाग पर ध्यान देना अत्यन्त महत्वपूर्ण हो सकता है—उदाहरण के लिये, जब हम किसी उद्योग के कुल उत्पाद मे विभिन्न वर्गों के भाग पर पडने वाले आर्थिक विकास के प्रभाव पर विचार कर रहे हो। किन्तु जब हमे उन परिवर्तनो को ज्ञात करना हो जो आय की श्रेणियो अथवा वर्गों के बीच न होकर व्यक्तियो के बीच मे हुए हैं, तो हमे इससे भी कुछ अधिक जानने की आवश्यकता होगी। केवल यह जानना ही पर्याप्त नही है कि किसी वर्ग को कुल आय का कितना भाग तथा किसी दूसरे वर्ग या किन्ही वर्गों को कितना भाग प्राप्त होता है, किन्तु इसके साथ ही यह जानने की आवश्यकता भी होगी कि किसी वर्ग मे आय प्राप्त करने वाले कितने व्यक्ति है जिन्हे उस भाग मे से हिस्सा लेना है। यदि सम्पत्ति के स्वामियो की सख्या की तुलना मे मजदूरो की सख्या अधिक तेजी से बढती है तो कुल उत्पादन मे से मजदूरी के रूप मे दिये जाने वाले भाग मे वृद्धि होने के बावजूद भी बहुत सम्भव है कि सम्पत्ति के स्वामियो की तुलना मे मजदूर अधिक निर्धन हो जाय (सापेक्ष एव निरपेक्ष दोनो ही प्रकार से) तथा आय की असमानताओ मे वृद्धि हो जाय। इसकी और भी अधिक सम्भावना होगी यदि श्रम-बाजार मे रोजगार के इच्छुक व्यक्तियों की सख्या मे वृद्धि होने के साथ सम्पत्ति का कुछ ही व्यक्तियो मे केन्द्रीयकरण हो रहा हो। इसके विपरीत, यदि सम्पत्ति का स्वामित्व विसरित (diffused) हो रहा हो, (उदाहरण के लिए, भूस्वामियो मे भूसम्पत्ति के विभाजन द्वारा) अथवा यदि सम्पत्ति राज्य के स्वामित्व मे आ रही हो, तो मजदूरी के रूप मे दिये जाने वाले उत्पाद के भाग मे कमी होने के बावजूद भी आय के वितरण मे अधिक समानता आ सकती है।

अन्तिम, मजदूरी मे मुद्रा के रूप मे होने वाले परिवर्तनो तथा वस्तुओ को क्रय करने की शक्ति के रूप मे होने वाले परिवर्तनो, अर्थात् नकद मजदूरी और वास्तविक मजदूरी मे होने वाले परिवर्तनो, एव मजदूरी की दरो मे होने वाले परिवर्तनो अथवा कार्य की दी हुई मात्रा अथवा अवधि के लिए चुकाई जाने वाली राशि और किसी निर्धारित अवधि मे, अर्थात् एक सप्ताह, माह या वर्ष मे किसी श्रमिक द्वारा प्राप्त औसत आय मे भिन्नता को भी ध्यान मे रखना होगा। इन भिन्नताओ के विषय मे नीचे विस्तार मे वर्णन किया गया है।

2. कुल-आय के अनुपात के रूप में मजदूरी मजदूरी-प्रणाली के सामान्य लक्षणों जिनका पिछले अध्याय में वर्णन किया जा चुका है, के आधार पर यह धारणा बनाई जा सकती है कि ऐसे समस्त देशों में जहां पूंजीवादी मजदूरी-प्रणाली प्रचलित है, कुल-आय की तुलना में मजदूरी का अनुपात लगभग समान रहता है। यदि ऐसा है तो उन देशों में, जहां श्रम की उत्पादकता अधिक है, प्रति व्यक्ति मजदूरी ऊँची होगी और श्रम की उत्पादकता में वृद्धि के साथ-साथ प्रत्येक देश में इसमें वृद्धि की प्रवृत्ति दृष्टिगोचर होगी। लेकिन प्रायः ऐसी धारणा रही है कि पूंजीवाद के विकास के साथ साथ उत्पादन के एक अंश के रूप में मजदूरी के भाग में सम्भवतः कमी हो जायगी क्योंकि ऐसा प्रभाव श्रम में बचत करने वाली मशीनों के उत्तरोत्तर अधिक प्रयोग का परिणाम होगा और पिछली डेढ़ शताब्दी में तकनीकी परिवर्तन मुख्यतः इसी प्रकार का रहा है। जिस प्रकार किसी एक ही देश के विभिन्न उद्योगों में शारीरिक श्रम-प्रधान कार्य होने की दशा में उद्योग में उत्पत्ति के प्रतिशत के रूप में कुल मजदूरी-बिल ऊँचा होगा और यान्त्रिक शक्ति के प्रति व्यक्ति अधिक प्रयोग की दशा में कम होगा, अर्थात् अधिक प्राचीन तकनीकी स्तर वाले देशों की तुलना में, ऐसे देशों में जहां उत्पादन अधिक यन्त्रीकृत है, कुल उत्पाद में मजदूरी का भाग अपेक्षाकृत कम होगा।

इसके अतिरिक्त यह भी अपेक्षा की जा सकती है कि श्रम-बाजार में कुल उत्पाद में श्रम के भाग पर श्रम-बाजार की अनेक शक्तियों का प्रभाव पड़ेगा जैसे श्रम की सुलभता अथवा दुर्लभता एवं मोल-भाव की क्षमता, क्योंकि अपनी श्रम-शक्ति के बदले मजदूरों को प्राप्त होने वाले मूल्य पर ये शक्तियां प्रभाव डालती हैं। किसी समय या स्थान में श्रम की उपलब्ध मात्रा जितनी अधिक होगी, श्रम बाजार के उतना ही अधिक क्रेता-प्रधान बाजार बन जाने, तथा श्रम को प्राप्त होने वाले भाग की उतना ही अधिक कम हो जाने की प्रवृत्ति होगी। इसके विपरीत जहां मांग की तुलना में श्रम-शक्ति परिमित है, जहां एक कृषक, कारीगर अथवा स्वतन्त्र व्यवसायी के रूप में कार्य करने पर श्रमिकों के मार्ग में अपेक्षाकृत *कम बाधायें हैं, अथवा जहां श्रमिक संघों के रूप में श्रमिकों के सुदृढ़ संगठन हैं, वहां* अन्य स्थानों की अपेक्षा कुल उत्पाद में श्रमिक अधिक भाग प्राप्त करने में सफल हो जायेंगे। उद्योग में एकाधिकारी संगठनों का विकास, ऐसे उपनिवेशों को, जहां श्रम सस्ता और प्राकृतिक साधन प्रचुर हैं, पूंजी का भारी निर्यात, अथवा निर्धारित मौद्रिक मजदूरी की क्रय-शक्ति बढ़ाने के उद्देश्य से सस्ते खाद्य पदार्थों के आयात के अवसर आदि कुछ ऐसे तत्व हैं, जो बहुत अधिक प्रभाव डाल सकते हैं।

आश्चर्य की बात तो यह है कि राष्ट्रीय आय के अनुपात के रूप में मजदूरी के विषय में उपलब्ध आंकड़े अल्पकालीन (जैसे एक व्यापार-चक्र की अवधि) और

दीर्घकालीन दोनो ही दृष्टियो मे इस अनुपात मे विशेष स्थिरता का सकेत देते हैं। यह स्थिरता इतनी महत्वपूर्ण है कि इसके कारण कुछ व्यक्तियो ने इसे आधुनिक पूंजीवादी समाज का एक आर्थिक नियम मान लिया है कि मजदूरी का भाग एक निश्चित राशि से अधिक कभी नही बढ सकता भले ही श्रमिक-सघो के विकास के द्वारा मजदूरो की मोल-भाव करने की शक्ति उत्तरोत्तर कितनी ही सुदृढ क्यो न हो जाय। सांख्यिकीविद् डाक्टर बाउले के अनुमानो से ज्ञात होता है कि देश मे उत्पन्न शुद्ध राष्ट्रीय आय (अर्थात् विदेशो से प्राप्त आय के अतिरिक्त) के अनुपात के रूप मे मजदूरी का भाग सन् 1880 मे लगभग 39 प्रतिशत और सन् 1913 मे भी 39 प्रतिशत था इनके बीच के समय मे मजदूरी का सर्वोच्च स्तर सन् 1890 से प्रारम्भ होने वाली दशाब्दी के प्रथम अर्द्ध भाग मे 41 प्रतिशत था। 1925 मे यह अक 42 प्रतिशत हो गया था जो सन् 1930 की दशाब्दी के मध्य मे पुन. गिरकर 39 प्रतिशत हो गया। द्वितीय विश्वयुद्ध आरम्भ होने के समय यह 39 और 40 प्रतिशत के बीच मे था और यदि हम मजदूरी-बिल एव राष्ट्रीय-आय दोनो मे से सैनिको के वेतन को निकाल दे, तो युद्ध क वर्षो मे यह अनुपात 41 प्रतिशत (सन् 1943 और 1944 के लिये) से अधिक नही था।[1] हाल मे प्रोफेसर सर डेनिस रोबर्टसन द्वारा लगाये गये अनुमानो से ज्ञात होता है कि "साधन-लागत (Factor cost) के आधार पर शुद्ध राष्ट्रीय आय" मे मजदूरी का भाग सन् 1938 मे 40 3 प्रतिशत से बढकर सन् 1953 मे 43.6 प्रतिशत हो गया।[2] अन्य कार्यो मे होने वाली आय (एक ऐसी श्रेणी जिसमे व्यवसाय-

---

1. ए. एल. बाउले, 'वेजेज एन्ड इनकम इन दी यू के सिन्स 1860' पृष्ठ 76, 92 तथा 'स्टडीज इन दी नेशनल इनकम' पृष्ठ 52,81. यहा मजदूरी-बिल में बिक्री-सहायकों को सम्मिलित नहीं किया गया है। श्री टी. बर्ना की प्रोफिट्स (फैबियन रिसर्च पैम्फ्लेट सं० 105) भी देखिये। श्री कालिन क्लार्क ने सरकारी आय को घटा कर देश में उपार्जित आय (Home Produced Income) का प्रतिशत सन् 1911 में 39.5, सन् 1924, 1927, 1928 और 1931-33 में 42, सन् 1935 में 40.5 व्यक्त किया (नेशनल इनकम एण्ड आउटले, पृष्ठ, 94) सन् 1870 से 1950 तक की सम्पूर्ण अवधि के अनुमानों के लिये देखिये: प्रोफेसर ई. एच. फेल्प्स ब्राउन तथा पी. ई हार्ट, दी इकोनोमिक जर्नल, जून 1952 पृष्ठ 276-77.

2 "वेजेज' दी स्टाम्प मेमोरियल लैक्चर फार 1954" में, पृष्ठ 19. सेनाओं को दिया जाने वाला वेतन यहा राष्ट्रीय आय में तो सम्मिलित किया गया है, किन्तु मजदूरी में शामिल नहीं किया गया है। सकल राष्ट्रीय उत्पाद (Gross National Product) के प्रतिशत के रूप में मजदूरी का एक अन्य अनुमान (अर्थात् पूंजी के ह्रास और अनुरक्षण को घटाये बिना कुल आय) प्रोफेसर ए सी. पीगू द्वारा 14 जुलाई सन् 1955 के 'दी टाइम्स' में लगाया गया। इसके आधार पर यह प्रतिशत सन् 1938 के लिये 36, सन् 1948 के लिये 40.5 और सन् 1954 के लिये 39.6 था।

धन्धों मे होने वाली आय और लाभ का भाग सम्मिलित है, और जो उसमें नहीं अधिक व्यापक है जिसे हम इस सन्दर्भ मे मजदूरी के रूप में वर्गीकृत करते हैं) और सम्पत्ति मे होने वाली आय के विषय मे किया गया वर्गीकरण इससे कुछ भिन्न प्रकार का है और डॉक्टर बाउले ने यह अनुमान लगाया है कि दूसरे प्रकार के भाग का प्रतिशत सन् 1880 मे कुल राष्ट्रीय-आय का $37\frac{1}{2}$ प्रतिशत था, शताब्दी के अन्त मे यह 35-36 तक गिर गया, किन्तु फिर सन् 1913 तक बढ़कर $37\frac{1}{2}$ प्रतिशत हो गया।[1] जहा तक संयुक्त राज्य अमेरिका का प्रश्न है डाक्टर किंग के अनुमानो से ज्ञात होता है कि शुद्ध राष्ट्रीय आय में मजदूरी का सापेक्ष भाग, जो सन् 19 9 मे 3 प्रतिशत से कुछ कम था, सन् 1925 मे 40 प्रतिशत से कुछ अधिक हो गया और अमेरिकन सांख्यिकीविद् डाक्टर कुजनेट्स (Dr. Kuznets) के आकडो का प्रयोग करते हुए डाक्टर केलेस्की (Dr. Kaleski) ने यह गणना की है कि निजी उद्योग द्वारा उत्पन्न सकल-आय (अर्थात् राजकीय सेवाओं को छोडकर मे मजदूरी का भाग सन् 1920 के दशक के पूर्वार्द्ध मे औसतन 37 2 प्रतिशत, सन् 1925 तथा 1929 के मध्य 36.5 प्रतिशत और सन् 193) के दशक के पूर्वार्द्ध मे 35.8 प्रतिशत रहा।[2] इन आँकड़ों की प्रतीत होने वाली स्थिरता अनेक ऐसे प्रभावों का सपातिक (Coincidental) परिणाम हो सकती है जो विभिन्न दिशाओं मे कार्यशील थे। उदाहरण के लिये विभिन्न ऐसे व्यवसायों के सापेक्ष भार मे परिवर्तन, जिनम मे प्रत्येक मे शुद्ध-उत्पादन की तुलना मे मजदूरी का अनुपात अलग-अलग होता है, अनेक ऐसे सामान्य तत्वों के प्रभाव को अस्पष्ट कर देते है, जो उत्पादन की प्रत्येक पृथक शाखा के शुद्ध उत्पादन म श्रम के भाग को बढाने अथवा कम करने मे क्रियाशील होते हैं। इसके अतिरिक्त कुछ लेखकों ने आर्थिक प्रणाली में एकाधिकार की सीमा (जिसके बारे म आगे एक अध्याय में लिखा गया है) पर अधिक जोर दिया है और इसे आधुनिक जगत् में विभिन्न आय-वर्गों के मध्य आय के विभाजन का प्रमुख निर्धारक माना है और यह व्यक्त किया है कि श्रम के भाग को कम करने के उद्देश्य मे आर्थिक प्रणाली में एकाधिकार की सीमाओं की बढ़ती हुई प्रवृत्ति का ऐसे अन्य कारकों द्वारा समाप्त किया जा सकता है (अंशत आकस्मिक कारकों द्वारा) जिनका प्रभाव विरोधी दिशाओं में होता है।

कुछ अनुमानो से यह संकेत मिलता है कि समस्त राष्ट्रीय आय मे मजदूरी के भाग की अपेक्षा विनिर्माण-उद्योगों के शुद्ध उत्पादन म मजदूरी के भाग मे अधिक

1. चेन्ज इन दी डिस्ट्रीब्यूशन आफ नेशनल इनकम 1880–1913, पृष्ठ 25.
2. एम केलेस्की, एस्सेज इन दी थ्योरी आफ इकोनोमिक फ्लक्चुएशन्स, पृष्ठ 16-17. ब्रिटेन में विक्री-सहायकों को मजदूरी आकडों में सम्मिलित नहीं किया जाता है जबकि अमरीका में उन्हें मजदूरी में सम्मिलित किया जाता है।

उतार-चढाव दिखलाई देता है जैसा कि व्यक्तिगत उद्योगो के शुद्ध उत्पादन मे मजदूरी के भाग मे भी दिखलाई देता है।[1] सयुक्त-राज्य अमेरिका के लिये हाल मे "विनिर्माण द्वारा उत्पन्न मूल्य मे" मजदूरी के प्रतिशत के बारे मे दो विद्वानो द्वारा लगाये गये अनुमानो के अनुसार यह सन् 1849 मे 51 प्रतिशत और सन् 1927 मे केवल .9 प्रतिशत था।[2] ऐसा प्रमाण मिलता है कि इस प्रतिशत मे सन् 1920 के बाद कमी हुई जो सन् 1933 तक निरन्तर होती रही और उसके पश्चात् फिर प्रेसीडेन्ट रूजवेल्ट की न्यू डील (New Deal) के वर्षो मे इसमे वृद्धि हुई। ब्रिटेन मे, जहा सयुक्त राज्य अमेरिका या जर्मनी की अपेक्षा यह कुछ ऊचा था, दोनो विश्व युद्धो के मध्य इसमे 'धीमे लेकिन निरन्तर ह्रास" की प्रवृत्ति दिखलाई दी है।[3] राष्ट्रीय आय मे "वेतनो" (Salaries) मजदूरी मे भिन्न) के अ श मे उल्लेखनीय वृद्धि दिखाई दी है, क्योकि यह सन् 1911 मे 5 6 प्रतिशत से बढकर सन् 1935 मे 25 प्रतिशत हो गया। यह वृद्धि आशिक रुप से आधुनिक उद्योग मे लिपिको के एव तकनीकी वर्गों के बढते हुये महत्व के कारण हुई है। किन्तु इसका अधिक भाग वेतनभोगियो के उच्च वर्गो की वृद्धि का प्रतिनिधित्व करता है जो एक विशाल उपक्रम के वेतनभोगी प्रबन्धक द्वारा स्वतन्त्र नियोक्ता के उत्तरोत्तर अतिक्रमण (Supersession) के कारण हो सकता है।[4] जहा तक आय के, विभिन्न वर्गो की बजाय विभिन्न व्यक्तियो मे, वितरण का प्रश्न है, पेरेटो द्वारा की गई तुलनाओ के आधार पर सभी विकसित पूजीवादी देशो मे यह समानता आश्चर्यजनक रूप से दृष्टिगोचर होती है। किन्तु द्वितीय विश्व युद्ध के कुछ पहले ऐसे सकेत दिखाई दिये कि ऐसे बडे आय वर्गो का, जो अतिकर (Surtax) की सीमा मे आते हैं, प्राप्त होने वाला कुल आय का अनुपात कुछ कम था। दोनो युद्धो के मध्य मे (सन् 1 29 मे) दो हजार पौंड प्रतिवर्ष से अधिक आय वाले (जो समस्त आय प्राप्त करने वालो के 0·5 प्रतिशत थे) कुल आय का 16 प्रतिशत तथा एक हजार पौंड से अधिक आय वाले कुल आय का 23 प्रतिशत भाग प्राप्त कर रहे थे। सन् 1938

---

1 देखिये जे. टी डनलप, 'वेज डिटरमीनेशन अन्डर ट्रेड यूनियन्स, पृष्ठ 165-80.

2. डगलस एन्ड जेनीसन, मूवमेन्ट आव मनी एड रीयल अर्निंग्स इन दी यूनाइटेड स्टेट्स, 1926-28, पृष्ठ 51. यदि द्वितीय अक में वेतनों को जोड दिया जाय तो सन् 1927 में वेतनों और मजदूरियों का स्युक्त प्रतिशत लगभग उतना ही था जितना कि 1849 में केवल मजदूरियों का था। यह ध्यान देने योग्य है कि इन तिथियों के बीच शताब्दी की तीन चौथाई अवधि में, वितरक व्यवसायों (Distributive trades) एव व्यापारिक धन्धों और उद्योगों में वेतनों के पदक्रमों में बहुत अधिक वृद्धि हुई थी, अत यह अक कुल राष्ट्रीय आय में मजदूरी व वेतनों के अनुपात का प्रतिनिधित्व नहीं करता।

3. डाक्टर एल. रोस्टाज: 'प्रोडक्टीविटि इन ब्रिटेन, जर्मनी एन्ड दी यूनाइटेड स्टेट्स, अप्रैल 1943 के दी इकोनोमिक जर्नल में पृष्ठ 53-54.

4. कोलिन क्लार्क, नेशनल इनकम एन्ड आउटले, पृष्ठ 94,99-101.

तक इस चार श्रेणी वाले वर्ग का भाग 18 प्रतिशत तक गिर चुका था।[1] आज वस्तुत चार श्रेणी वाली आय का (वास्तविक क्रय शक्ति की दृष्टि से) महत्व उसमें सर्वथा भिन्न है जो सन् 1938 में था और द्वितीय विश्व युद्ध के पहले और बाद के लिये तुलना करते समय इस मध्यावधि में मूल्यों एवं आय के स्तर में हुये बड़े परिवर्तनों को ध्यान में रखना होगा। किन्तु यदि सन् 1938 और 1947 में हम आय प्राप्त करने वालों में चोटी के एक प्रतिशत भाग को देखें तो ज्ञात होगा कि उनके भाग में (कर घटाने से पूर्व) इन दोनों वर्षों के बीच एक तिहाई की कमी हुई है।[2]

3. नकद मजदूरी एवं वास्तविक मजदूरी यदि मजदूरी के रूप में दी जाने वाली धनराशि दुगुनी कर दी जाय, किन्तु उनके द्वारा साधारणत प्रयोग की जाने वाली वस्तुओं की उपलब्ध मात्रा में कोई परिवर्तन न हो, तो इससे मजदूरों के जीवन स्तर पर स्पष्टत कोई प्रभाव नहीं पड़ेगा। परिणाम यह होगा कि अभाव एवं लम्बी कतारों के दृश्य दिखलाई देने लगेंगे जैसे कि युद्ध के समय बढ़ी हुई माग और सीमित पूर्ति के कारण प्राय दृष्टिगोचर हुए थे और मूल्यों में उस समय तक वृद्धि होती रहेगी जब तक कि मूल्य बढ़ी हुई मौद्रिक आय (अथवा आय के व्यय किये जाने वाले भाग) के बराबर न हो जाये। दूसरे शब्दों में, नकद मजदूरी में वृद्धि होते हुए भी वास्तविक मजदूरी में कोई परिवर्तन नहीं होगा। कुछ लोगों का यहा तक विचार है कि चूकि प्रमुख खाद्य पदार्थों की उपलब्ध पूर्ति फिलहाल बहुत कुछ स्थिर है, और उसमें कुछ समय के अवकाश के बाद ही वृद्धि की जा सकती है, इसलिए वास्तविक मजदूरी के पूरी तरह बढ़ने की सम्भावनायें भी बहुत सीमा तक सकुचित हो जाती हैं। यह सही है कि पर्याप्त समय बीत जाने के बाद—कदाचित एक या दो वर्ष अथवा अधिक मजदूरों के द्वारा उपभोग में लाई जाने वाली वस्तुओं के बढ़े हुए मूल्य पूँजी और श्रम को इन वस्तुओं के उत्पादन में हस्ता-

---

1. देखिये पृष्ठ 107–110, एम अनाम्स, टी क टीशन आव दी ब्रिटिश पीपिल 1911–1945 पृष्ठ 109 उपयुक्त उल्लेख करारोपण से पूर्व आय के वितरण के सन्दर्भ में किया गया है। उच्च आय-वर्गों के प्रगतिशील करारोपण के तथा आय के वितरण के ढाचे को सशोधित करने के अभिप्राय से राज्य द्वारा किये गये सामाजिक व्यय के प्रभावों के विषय में डाक्टर बरना (Dr. Barna) द्वारा गत युद्ध से पूर्व यह अनुमान लगाया गया कि धनिकों से निर्धनों को होने वाला पुनर्वितरण सन् 1937 में सम्भवतः कुल राष्ट्रीय आय का 5 या 6 प्रतिशत था (टी बरना, रिडिस्ट्रीब्यूशन आव इनकम्स, 1937 पृष्ठ 233)

2. यदि करारोपण के बाद शेष आय पर विचार किया जाय, तो यह कमी वस्तुत इससे अधिक थी। (अर्थात् करारोपण के बाद अर्जी समस्त आय के 12 प्रतिशत भाग से 7 प्रतिशत तक) देखिये, डडले सीयर्स, आक्सफोर्ड बुलेटिन आव स्टेटिस्टिक्स, सितम्बर 1949, पृष्ठ 262.

त्वरित होने के लिए प्रोत्साहित करें जिससे उनकी पूर्ति में अन्तत: वृद्धि की जा सके और वास्तविक मजदूरी व नकद मजदूरी दोनों में वृद्धि हो सके। किन्तु ऐसा उसी दशा में होगा जब इसके साथ साथ अन्य दिशाओं से माग में वृद्धि न हो और कमी केवल श्रमिकों के उपभोग में आने वाली वस्तुओं की हो। किन्तु यदि श्रमिकों के अतिरिक्त अन्य व्यक्तियों की ओर से माग बढ जाय क्योंकि आय में सामान्य रूप से वृद्धि होने अथवा अधिक व्यय करने के उद्देश्य से सम्पन्न व्यक्तियों द्वारा बैंकों में जमा राशि को निकालने के कारण मूल्य में चारों ओर से वृद्धि होने की प्रवृति उत्पन्न हो जायगी। ऐसी दशा मे मजदूरो के द्वारा उपभोग की जाने वाली वस्तुओं के अधिक उत्पादन के लिये साधनों का हस्तान्तरण नहीं होगा और न वास्तविक या असल मजदूरी मे ही कोई वृद्धि होगी। व्यवहार में वस्तुत श्रमिकों के उपभोग की वस्तुओं में से अधिकाश का उपभोग समाज के अन्य वर्गों द्वारा भी किया जायगा। मजदूरो को मजदूरी की अधिक राशि प्राप्त होने और उनके द्वारा अधिक खरीदारी करने के कारण यदि इन वस्तुओं के मूल्यो में वृद्धि होना आरम्भ हो जाय, तो फिर यह भी सम्भव है कि गैर श्रमिकों (विशेषकर सम्पन्न व्यक्तियों) के द्वारा, बजाय इसके कि वे उपभोग को कम करके मजदूरों की बढी हुई माग को पूरा करने के लिये अधिक मात्रा मे माल उपलब्ध करें, बैंको से जमा राशि निकालकर तदनुसार अपना व्यय बढा लिया जायगा ताकि वे अपने भाग को यथावत् रखने में सफल हो सकें।[1] दूसरे शब्दो मे, इस बात की पर्याप्त सम्भावना है कि ऐसे व्यक्ति जिनकी बैंकों मे धनराशि जमा है (और परिणामस्वरूप साधारण मूल्य-वृद्धि की दशा मे उनकी माग की प्रवृत्ति बहुत कुछ बेलोच है) इस तरह से कार्य करेंगे कि अंशत अथवा पूर्णत वे श्रमिकों के द्वारा अपनी नकद मजदूरी की दृष्टि से प्राप्त उपलब्ध पदार्थों में उनके भाग को बढाने के लिये किये गये प्रयत्नों को निष्फल कर सकें।

आज की आर्थिक प्रणाली मे विद्यमान एकाधिकार की अधिकता के कारण ऐसा होने की सम्भावना (मूल्य नियत्रण लागू न होने की दशा मे) बढ जाती है। यह एक ऐसा विषय है जिस पर हम आगे एक अध्याय में विचार करेंगे। किन्तु यदि

1. यदि मजदूरियों के साथ-साथ मूल्यों में भी वृद्धि होती है, तो लाभ आदि में भी वृद्धि हो जायगी और इसका अर्थ यह होगा कि ऐसे व्यक्ति जिनके बैंकों मे धन जमा है और जो अपने बढ़े हुए खर्चों की पूर्ति बैंकों में जमा धन को निकाल कर कर रहे हैं, शीघ्र ही यह अनुभव करने लगेंगे कि उनकी आय में वृद्धि हो रही है और यह उनके व्यय के ऊंचे स्तर को बनाये रखने में सहायक होगी। दूसरे शब्दों में, यदि मूल्य वृद्धि के प्रति उनकी प्रारम्भिक प्रतिक्रिया काफी व्यापक हो तो उसका औचित्य "स्वयं सिद्ध हो जायगा"। प्रारम्भिक क्रिया और उसके बाद होने वाले प्रभाव के बीच यदि समय का अन्तर बहुत कम है, तो अधिक व्यय करने वाले व्यक्तियों की बैंकों में जमा राशि खाली होने के साथ ही फिर से बढने लगेगी।

किसी उद्योग मे प्रचलित प्रथा के अनुसार फर्मों को मूल्य एव उत्पादन के विषय मे ऐसा संयोजन चुनने की स्वतत्रता प्राप्त है जो उन्हे उत्पादन के प्रत्यक्ष व्ययो को निकाल कर अधिकतम लाभ प्रदान करे और विक्रय मूल्य को ज्ञात करने के उद्देश्य मे उसमे कुछ राशि मार्जिन के रूप में जोडी जा सके (प्रतिशत अथवा निरपेक्ष राशि के रूप में) तो मजदूरी म और तदनुरूप उत्पादन के प्रत्यक्ष (अथवा प्रमुख) व्ययो मे होने वाली वृद्धि का परिणाम यह होगा कि विक्रय मूल्य मे भी उसी मात्रा म वृद्धि हो जायेगी। यदि मजदूरी के अनुपात मे माग मे वृद्धि नहीं होती, तो इस ऊचे मूल्य पर बचा जा सकने वाला उत्पादन सकुचित हो जायगा और यह सकुचन इतनी भारी मात्रा म हो सकता है कि वह अधिक विक्रय के हित मे फर्मो को अपनी मूल्य-नीति पर पुन विचार करने और वस्तु की प्रत्येक इकाई पर निर्धारित लाभ की सीमा को कम करने के लिये बाध्य कर दे। किन्तु, यदि पिछले पैरा मे उल्लिखित कारणो से, वस्तुओं की माग तथा मजदूरी और लागतो मे वृद्धि होती है, तो मूल्यो का ऊचा स्तर तथा बिक्री की पूर्व मात्रा, दोनों को कायम रखा जा सकता है और यह इस बात का प्रतीक होगा कि फर्मे ऊची मजदूरी-लागतो को ऊचे मूल्यो के रूप मे हस्तान्तरित करने म सफल हो सकेंगी। नकद मजदूरी, मूल्य, मौद्रिक-लाभ और माग सभी मे वृद्धि हो जायगी। किन्तु इस सबका परिणाम यह होगा कि वास्तविक मजदूरी एव आय मे मजदूरों का प्राप्त होने वाले भाग मे कोई परिवर्तन नही होगा। इसमें कदाचित यह समझने म सहायता मिल सकती है कि राष्ट्रीय आय म श्रम के भाग मे इतनी स्थिरता क्यो रही है।

नकद मजदूरी के बढने तथा उससे भी अधिक तेजी से मूल्यों के बढने तथा परिणामस्वरूप वास्तविक मजदूरी के वस्तुत गिर जाने का एक उदाहरण जिसकी मिसाल प्राय दी जाती है, उन्नीसवी शताब्दी के अन्तिम वर्षो और प्रथम विश्वयुद्ध के आरम्भ होने के बीच का समय है। इस अवधि मे विश्व मे स्वर्ण की बढी हुई पूर्ति और इस देश मे स्वर्ण के आयात (विदेशी विनियोग की गतिविधियो मे अधिक वृद्धि हो जाने के साथ) के फलस्वरूप मौद्रिक आय मे सामान्यत वृद्धि हुई। किन्तु समाज के अन्य वर्गो की आय मजदूरी की तुलना म अधिक तेजी से बढी। परिणाम यह हुआ कि सबसे पहले ऐसी वस्तुओ के मूल्य बढे जिन पर ऐसे अन्य व्यक्तियो द्वारा धन व्यय किया गया—ऐसी वस्तुए मुख्यत आराम और विलासिता की वस्तुयें थी। यह मत व्यक्त किया गया है कि इस प्रारम्भिक वृद्धि के फलस्वरूप, श्रमिक वर्ग द्वारा प्रयोग की जाने वाली प्राथमिक आवश्यकताओ के उत्पादन के बजाय विलासिताओ के उत्पादन के प्रति श्रम एव पूजी का आकर्षण अधिक बढा क्योकि अब उनका उत्पादन अपेक्षाकृत अधिक लाभदायक था और साधनों के इस स्थानान्तर ने, ऐसी वस्तुओ की जिन पर मजदूर अपना धन व्यय करते हैं, पूर्ति घटाकर और उनके मूल्य बढाकर वास्तविक मजदूरी म कमी उत्पन्न कर दी।

इस दशा मे बढती हुई नकद मजदूरी एव मूल्य गिरती हुई वास्तविक मजदूरी से जुडे प्रतीत होते है। ऐसे एव कुछ अन्य उदाहरणों के आधार पर प्राय यह माना जाता रहा है कि नकद मजदूरी की तुलना मे बढते हुये मूल्यों के काल मे मूल्यो मे सदैव अधिक तेजी से वृद्धि हुई है और घटते हुए मूल्यो के काल मे अधिक तेजी से कमी हुई है, और इस प्रकार प्रथम काल वह समय था जब वास्तविक मजदूरी सामान्यत: गिर रही थी तथा दूसरे काल मे मजदूरों के जीवन-स्तर मे वृद्धि हो रही थी। किन्तु पिछले कुछ वर्षों मे इस पूर्व मान्य धारणा मे सन्देह व्यक्त किया गया है और कुछ ऐसे प्रमाण एकत्रित किये गये हैं जिनसे यह ज्ञात होता है कि तेजी (boom) के समय एवं बढते हुये उत्पादन और रोजगार के समय मे (जब मूल्यो एव मजदूरी दोनो मे वृद्धि की प्रवृत्ति होती है) वास्तविक मजदूरी में वस्तुत वृद्धि होती है और मन्दी (slump के समय तथा सकुचित उत्पादन एव रोजगार के समय मे उनमें गिरने की उतनी ही सम्भावना रहती है जितनी कि बढने की।[1] प्रमाण पूर्णत निर्णायक नहीं है और यह प्रश्न अभी तक बहुत कुछ विवादास्पद बना हुआ है। किन्तु स्पष्टत इतना निश्चित है कि नकद मजदूरी और वास्तविक मजदूरी के पारस्परिक सम्बन्ध का प्रश्न पहले जितना कठिन समझा जाता था, उससे कही अधिक जटिल हो गया है, और इसका सही उत्तर यही प्रतीत होता है कि उनके पारस्परिक सम्बन्ध के विषय मे कोई एक सामान्यीकरण (Generalisation) समस्त दशाओ में सही नहीं हो सकता।[2]

4 **मजदूरी की दरें एव आय** जब हम मजदूरी-दर की बात करते है तो इसमे हमारा तात्पर्य श्रमिक को, प्रति घंटे अथवा प्रति सामान्य कार्य-दिवस, अथवा कोई निर्धारित कार्य सम्पन्न करने के लिये, दी जाने वाली धन राशि से होता है। दूसरे शब्दो में, हमारा अभिप्राय उस धनराशि से है जो श्रमिक को उसके द्वारा सम्पन्न किये गये कार्य के बदले में मिलती है। जहा तक श्रमिक द्वारा व्यय की गयी श्रमशक्ति या शारीरिक शक्ति का प्रश्न है, कार्य को समय के आधार पर नापना, कार्य की मात्रा को नापने का सही मापदण्ड नहीं हो सकता, क्योंकि कार्य की गहनता intensity) (अर्थात् किसी एक समय में किये गये प्रयत्न की मात्रा) में

---

1. देखिये जे. टी डनलप, 'दि मूवमेन्ट आव रीयल एन्ड मनी वेज रेट्स' इकोनोमिक जर्नल, सितम्बर 1938 तथा जे एम. केन्स 'रिलेटिव मूवमेन्टस आव रीयल वेजेज एन्ड आउटपुट,' इकोनोमिक जर्नल, मार्च 1939
2. विशेषत: एक ऐसी अवस्था में जब नकद मजदूरी के साथ-साथ उत्पादन में भी परिवर्तन हो रहा हो, तथा एक ऐसी अवस्था मे जब नकद मजदूरी में तो परिवर्तन हो रहा है किन्तु उत्पादन में कोई परिवर्तन नहीं हो रहा है, परिणाम सम्भवत: भिन्न होंगे और इस पर एकाधिकार की सीमा में होने वाले परिवर्तनों और उसके साथ-साथ आयातित कच्चे माल एवं खाद्य-पदार्थों के मूल्यो में होने वाले परिवर्तनो का भी प्रभाव पड सकता है।

है । युद्धो के बीच के समय में किसी गोदी-कर्मचारी द्वारा एक सप्ताह में प्राप्त कार्य-दिवसो की औसत सख्या चार से अधिक प्राय नहीं रही है तथा कभी-कभी इससे भी कम थी—उदाहरण के लिये सन् 1920 मे साउथेम्पटन का एक औसत गोदी कर्मचारी एक सप्ताह में तीन दिन से भी कम कार्य करता था। बेरोजगारी के समय सभी उद्योगो मे श्रमिक औसतन एक वर्ष के लिये सामान्यत निर्धारित सप्ताहो से कम अवधि के लिये रोजगार प्राप्त कर सकने की स्थिति में होते हैं, जबकि उनमें से कुछ वर्ष के अधिकांश महीनो में अथवा वर्ष पर्यन्त निरन्तर बेरोजगार रहते हैं । ऐसे समय श्रमिको की आय में होने वाले परिवर्तन, विशिष्ट कार्य को पूरा करने के लिये निर्धारित मजदूरी की दरो में होने वाले परिवर्तनो से सर्वथा भिन्न हो सकते हैं ।

द्वितीय मजदूरी की दरो की बजाय आय में भिन्न प्रकार से इसलिये भी परिवर्तन हो सकता है कि विभिन्न वर्गों या वेतनक्रमो में गतिशीलता हुई है और फलत प्रत्येक वर्ग में नियुक्त श्रमिकों की सापेक्ष सख्या में परिवर्तन हुआ है । उदाहरण के लिये, यदि किसी निर्धारित अवधि में श्रमिको की पदवृद्धि किये जाने की प्रवृत्ति रही है जिससे कि उस अवधि के अन्त में उनकी अधिक सख्या, निम्न वेतन क्रमो की तुलना में पहले की अपेक्षा उच्च वेतन-क्रमो मे है तो प्रत्येक वर्ग में मजदूरी की दरो के अपरिवर्तित रहने के बावजूद भी सम्बन्धित श्रमिको की औसत आय में वृद्धि हो जायगी । यदि विभिन्न उद्योगो में दी जाने वाली मजदूरी में असमानता पाई जाती है तो विभिन्न वर्गो या वेतन क्रमो मे नियुक्त श्रमिकों की सापेक्ष सख्या मे होने वाले परिवर्तनो का प्रभाव भी वही होगा जो विभिन्न उद्योगो मे नियुक्त श्रमिको की सापेक्ष सख्या मे होने वाले परिवर्तन का होता है ।

तृतीय कार्य की गति मे होने वाला परिवर्तन उजरत पर काम करने वाले श्रमिको की आय को प्रभावित कर सकता है । अधिक मेहनत से काम करने के कारण, अथवा प्रयोग मे आने वाली मशीनो या कच्चे माल मे होने वाले परिवर्तनो के कारण, अथवा कार्य के सगठन की रीति मे होने वाले परिवर्तनो के कारण भी किसी श्रमिक द्वारा सम्पन्न दैनिक कार्य की मात्रा मे परिवर्तन हो सकता है । उदाहरण के लिये, कोयला खोदने वाले श्रमिको को प्राप्त होने वाली आय, प्रति टन समान मजदूरी की दर के होते हुए भी इस बात से प्रभावित होगी कि उस स्थान पर जहा वे खान मे काम करते हैं पाया जाने वाला कोयला कठोर है अथवा नरम । कताई मिलो मे कातने वाले यह शिकायत करते हैं कि यदि उन्हे कपास की घटिया किस्म दी जाती है तो उनकी आय मे कमी हो जाती है क्योकि टूटे हुए धागो की सख्या मे वृद्धि हो जाने से कताई मे रुकावट पैदा होती है । किसी जूते के कारखाने अथवा इन्जीनियरिंग वर्कशाप मे श्रमिक एक दिन या एक घटे मे अधिक काम कर सकते हैं यदि काम का प्रमापीकरण उच्चकोटि का है और उन्हें काम दीर्घ-काल

(Long-runs) के लिए प्राप्त होता है बजाय इसके कि उनके द्वारा किये जाने वाले कार्य की प्रकृति में निरन्तर परिवर्तन होता रहे और उन्हें काम अनेक "लघुकालों" (Short-terms) के लिए प्राप्त हों और जिसके कारण उन्हें काम की प्रक्रिया एवं मशीन में कई बार फेर बदल करना पड़े।

सन् 1914 से 1924 के दशक में, जिसमें प्रथम विश्वयुद्ध में होने वाले औद्योगिक परिवर्तन शामिल हैं, मजदूरी की दरों से अधिक आय में वृद्धि होने में इन कारणों का प्रभाव बहुत अधिक था, तथा डाक्टर बाउले के अनुसार जबकि इस दशक में नकद मजदूरी की दरों में हुई वृद्धि 70 और 75 प्रतिशत के बीच थी, औसत आय में वृद्धि, बेरोजगारी के प्रभावों को छोड़कर, 94 अथवा 95 प्रतिशत थी।[1] सन् 1924 से 1935 के बीच दरों एवं आय के बीच परिवर्तनों में तालमेल रहा। किन्तु द्वितीय विश्वयुद्ध के दौरान एवं उसके बाद वे प्रभाव जिनके बारे में पहले उल्लेख किया जा चुका है, पुनः दृष्टिगोचर हुए। युद्ध के पश्चात्, जुलाई 1945 में मजदूरी की दरें युद्ध से पूर्व की अपेक्षा, 53 प्रतिशत तथा समस्त श्रमिकों की औसत आय 80 प्रतिशत अधिक थी। यह अन्तर मुख्यतः पदोन्नति के कारण, उजरत के आधार पर भुगतान पाने वालों की संख्या में वृद्धि, इन कार्यों पर उत्पादन की तीव्रतर तथा समयोपरि काम में वृद्धि और रात्रिकालीन कार्य की अधिकता के कारण था। कुछ सीमा तक यह विभिन्न उद्योगों में नियुक्त श्रमिकों की संख्या में हुए परिवर्तन के कारण भी था।[2] सन् 1954 तक मजदूरी की दरें सन् 1938 की तुलना में 140 प्रतिशत बढ़ चुकी थीं, जबकि समस्त श्रमिकों की औसत आय में वृद्धि 222 प्रतिशत थी (केवल वयस्क पुरुष श्रमिकों के सम्बन्ध में यह वृद्धि 196 प्रतिशत थी।[3]

किन्तु इससे पूर्व कि हम श्रमिक एवं उसके परिवार के जीवनस्तर के विषय में विचार करें, हमें व्यक्तिगत श्रमिक की आय और उसमें होने वाले परिवर्तनों के कारणों के अतिरिक्त, और भी कुछ अधिक जानने की आवश्यकता है। ऐसी दशा में परिवार इकाई है और हमें यह जानना चाहिये कि किसी परिवार में कितने

---

1. ए. एल. बाउले, वेजेज एण्ड इनकम सिंस 1860 पृष्ठ 11-18 तथा [illegible] लन्दन एण्ड केम्ब्रिज इकोनोमिक सर्विस का स्मरणपत्र (मेमोरेन्डम) नं. 12.
2. देखिये, ए. एल. बाउले, 'दी लन्दन एण्ड केम्ब्रिज इकानामिक सर्विस' के मेमोरण्डा नं० 97 तथा 102 तथा फरवरी 1946 का मिनिस्ट्री ऑव लेबर गजट।
3. लन्दन एण्ड केम्ब्रिज इकानामिक सर्विस बुलेटिन, मार्च, 1955 का मिनिस्ट्री ऑफ लेबर गजट। मजदूरी की दरों के लिए जून, 1954 की तुलना 1938 के औसत से की गई है, आय के लिए अक्टूबर 1954 के अर्जित भुगतान [illegible] की तुलना अक्टूबर 1938 से की गई है।

कमाऊ व्यक्ति हैं और उस परिवार का आकार क्या है जिसका कि इस आय से पालन-पोषण होना है। इस दृष्टि से विभिन्न कालो मे विभिन्न राष्ट्रों एव विभिन्न परिवारो के मध्य पर्याप्त अन्तर की गु जाइश है। ग्रास्ट्रेलिया मे, विवाहित अथवा अविवाहित पुरुष श्रमिको मे सपितृ अथवा पितृहीन बच्चो की सख्या सन् 1920 मे औसतन 0 9 थी, जबकि ब्रिटेन मे वह । 1 थी। इस देश मे प्रति परिवार चौदह वर्ष से कम आयु के बच्चो की औसत सख्या, जोकि सन् 1911 मे 1.29 थी, सन् 1931 मे गिरकर 1 1 रह गई। एक ही नगर म विभिन्न परिवारो मे पर्याप्त अन्तर हो सकता है। एक परिवार मे पिता और शायद दो पुत्र और एक पुत्री सभी कमाऊ हो सकते है, जबकि दूसरे मे पिता अथवा विधवा को बडी सख्या मे छोटे बच्चो और शायद वृद्ध दादा तथा दादी का भी पालन करना हो सकता है। रोउन्ट्री महोदय के द्वारा शताब्दी के आरम्भ मे योर्क मे श्रमिक परिवारो की रहन-सहन की दशाओ मे किये गये अध्ययन से यह ज्ञात हुआ कि लगभग दस प्रतिशत परिवारो में पाच अथवा इससे अधिक, एक तिहाई में तीन या इससे अधिक लगभग दो तिहाई परिवारो में दो से कम आश्रित बच्चे थे। रोउन्ट्री ने जब सन् 1936 मे योर्क मे इन दशाओ का फिर से अध्ययन किया, तब उन्हे ज्ञात हुआ कि जन्म-दर में कमी के कारण, तीन या इससे अधिक बच्चो वाले परिवारो का अनुपात गिर कर 9 प्रतिशत रह गया था जबकि वयस्क पुरुष श्रमिको में से तीन या चौथाई या तो एकाकी (Single) थे, अथवा यदि विवाहित भी थे तो उन पर दो से कम बच्चे ही आश्रित थे।[1] किन्तु, यद्यपि हाल के दशको में परिवारो के औसत आकार एव परिवारो के आकार में अन्तर, दोनो में परिवर्तन हुआ है, फिर भी यह सत्य है कि वह मजदूरी जो किसी औसत परिवार को बहुत कुछ उचित जीवन स्तर प्रदान कर सकती है, बहुत से असामान्य रूप से बडे परिवारो को जिनमे कमाऊ व्यक्ति एक ही है, भुखमरी के स्तर पर रखती है। इसके अतिरिक्त वह मजदूरी, जो कि किसी औसत परिवार के लिये अत्यन्त न्यून है, उसी प्रकार का काम करने वाले अविवाहितो को विलास एव आराम पर कुछ व्यय करने के लिए बचत प्रदान कर सकती है।

श्रमिको के जीवन स्तर मे होने वाले परिवर्तनो को मापने के सिलसिले में उपलब्ध आकडो के आधार पर मजदूरी की दरो और आय के अन्तरो को ध्यान में रखना कठिन रहा है। प्रति-घन्टा मजदूरी की दरो के बारे में पूरे आकडे उपलब्ध नहीं हैं। श्रम मत्रालय ने श्रम मत्रालय गजट में और श्रमिक सघो के मध्य विद्यमान सामूहिक समझौतो के आधार पर अनेक व्यवसायो में मजदूरी की दरो में होने वाले परिवर्तनो को एकत्रित करके पिछले कुछ समय से प्रति माह प्रकाशित किया है। किन्तु ये आकडे समस्त उद्योगो के बारे में नही हैं और उन उद्योगो के बारे में भी जिन पर वे

1. बी. सीबोहम रोउन्ट्री, 'ह्यूमन नीड्स आव लेबर', 1937 सस्करण, पृष्ठ 29-30 'पावर्टी एन्ड प्रोग्रेस' पृष्ठ 71, 483

लागू होती हैं यह निश्चयपूर्वक नही कहा जा सकता कि इन समझौतों का समस्त व्यवसाय में पालन किया जाता है। मजदूरी-परिषदों द्वारा निर्धारित न्यूनतम दरें उन व्यवसायों में पायी जाती है जिनमें ऐसी परिषदे कार्यशील हैं। फिर भी सही तौर पर यह ज्ञात नही होता कि आम तौर पर समस्त व्यवसाय में नियोक्ता किस सीमा तक इन न्यूनतम दरो को लागू करते हैं, अथवा श्रमिकों का कितना अनुपात न्यूनतम दरो से अधिक पर काम कर रहा है। उजरत पर काम करने वाले श्रमिकों की दशा में एक अतिरिक्त कठिनाई यह है (ऐसे उद्योगों को छोडकर जिनमे नियोक्ता अपने कुल मजदूरी-बिल के विषय मे सूचना देते हैं) उजरत की दरें ज्ञात होने पर भी, जब तक कि उस उद्योग का व्यापक ज्ञान न हो, यह ज्ञात नही किया जा सकता कि एक औसत श्रमिक प्रति घटा और प्रतिदिन कितना माल तैयार करता है। पहले मुख्य उद्योगों मे किये गये औसत कार्य के घटों तथा औसत आय के विषय में आकड़े कभी-कभी ही एकत्रित एव प्रकाशित किये जाते थे।[1] सौभाग्य से श्रम मंत्रालय ने पिछले कुछ वर्षो से आय के विषय मे इन आकडो को प्रति छः माह से एकत्रित करना आरम्भ कर दिया है जिससे कि अब हमे पहले की अपेक्षा कही अधिक सूचनाए प्राप्त हैं।[2]

5. निर्वाह व्यय सूचकांक.—यदि हम निर्वाह व्यय मे होने वाले अन्तरो को ध्यान में रखते हुए वास्तविक मजदूरी के अन्तरो का अनुमान नकद-मजदूरी के आधार पर लगाते हैं, तो हमारी कठिनाई और बढ जाती है। अब तुलना की जाने वाली दो दशाओं मे उपभोग की वस्तुएँ समान रहती हैं तो कोई कठिनाई नहीं होती है किसी भी वर्ष या दी हुई दशा मे श्रमिक वर्ग के वास्तविक पारिवारिक बजटो के एक न्यादर्श (सैम्पल) के सम्बन्ध मे सूचना एकत्रित की जा सकती है और इस प्रकार उस सैम्पल मे विभिन्न बजटो का औसत ज्ञात किया जा सकता है। यह औसत बजट विभिन्न मात्राओं मे भिन्न-भिन्न वस्तुओ से निर्मित होगा—अर्थात् अमुक मात्रा मे रोटी, अमुक मात्रा मे मास, ईंधन, रोशनी, वस्त्र, मकान आदि। और फिर इन दो दशाओं मे इस औसत बजट की क्रय-लागत की गणना की जा सकती है, और लागत के अन्तर को एक वर्ष के (जिसे "आधार वर्ष" कहा जायगा) अकों को सुविधा के लिए 100 के बराबर मानकर सूचकाक के रूप मे व्यक्त किया जा सकता है। उदाहरण के लिये, दो दशाओं मे निर्वाह-व्यय के सूचकाक को इस प्रकार व्यक्त किया जा सकता है—

(1) 100
(2) 120

1. सन् 1886, 1906, 1924, 1928 1931 तथा 1935 में.
2 आय के ये आकडे लगभग 53,000 ऐसे संस्थानों से एकत्रित किये गये हैं जिनमें लगभग 52.5 लाख श्रमिक काम करते हैं।

ये दो दशाएँ ऐसे दो देश अथवा दो वर्ष हो सकते हैं जिनमे तुलना की जाती थी। तब उन दो दशाओ मे नकद मजदूरी के अन्तर मे निर्वाह व्यय के सूचकांक के अन्तर का भाग देकर इन दो दशाओ मे वास्तविक मजदूरी के सम्बन्ध को ज्ञात किया जा सकता है। उदाहरण के लिये, यदि किन्ही दो समयो मे मजदूरी 40 शिलिंग से बढकर 48 शिलिंग और निर्वाह व्यय सूचकांक 100 से बढकर 120 हो गये तो वास्तविक मजदूरी मे कोई परिवर्तन नही होगा।

किन्तु व्यवहार मे पारिवारिक वजट का निर्माण करने वाली मदें किन्ही दो भिन्न-भिन्न समयो मे अथवा दो भिन्न-भिन्न देशो मे समान नही रहती। इन दो दशाओ मे विभिन्न वस्तुओ का महत्व अलग-अलग होता है। एक मे कोई एक वस्तु होगी। जबकि दूसरी दशा मे इसका कोई एक विकल्प अथवा प्रतिस्थापक (Substitute) होगा। किसी अवधि मे परिवार मक्खन का प्रयोग छोडकर मार्गरीन (घटिया स्थानापन्न) का प्रयोग आरम्भ कर सकते है, वे सूअर के मास के स्थान पर गौमास का अधिक प्रयोग कर सकते है तथा मदिरा पर कम और वस्त्रो पर अधिक व्यय कर सकते है। ब्रिटेन मे श्रमिक परिवार चाय पीते है किन्तु महाद्वीप मे वे कहवा पीते हैं। कुछ देशो मे गेहूँ की रोटी खाई जाती है, किन्तु कुछ अन्य देशो मे राई की रोटी, आलू अथवा आलू का आटा आम भोजन है। पूर्वी देशों मे श्रमिक मुख्यत. चावल पर गुजारा करते हैं। समुद्रपार देशो मे श्रमिकों के भोजन मे अण्डों का महत्व केन्द्रीय योरोप की तुलना मे छः गुना अधिक होता है तथा स्केण्डीनेवियन देशो मे इङ्गलैंड की अपेक्षा दूध और दूध के पदार्थो की अधिक प्रमुखता होती है। खाद्य के अलावा अन्य वस्तुओ की दशा मे जैसे वस्त्र, फर्नीचर मकान का कमरा पर्याप्त भिन्नता होती है और इन भिन्नताओ को मात्राओ के रूप मे व्यक्त करना वस्तुत असम्भव होता है। क्या एक पौंड चाय को एक पौंड कहवे, एक पौंड गेहूँ की रोटी को एक पौंड राई की रोटी, एक पौंड मक्खन को एक पौंड मार्गरीन, एक अग्रेज श्रमिक द्वारा खरीदे गए एक जोडी जूते को एक चीनी कुली द्वारा खरीदी गई एक जोडी अथवा दो या तीन जोडी चप्पलो (Sandals) के बराबर माना जा सकता है? प्रथम विश्वयुद्ध के बाद ही प्रोफेसर बाउले ने एक और यह दावा किया कि निर्वाह-व्यय के सरकारी सूचनाको मे मूल्य-वृद्धि का अनुमान अधिक लगाया गया, क्योकि व्यवहार मे लोगो ने अपनी आदतो को बदल लिया था (जैसे मक्खन के स्थान पर मार्गरीन), जबकि दूसरी ओर श्रमिक-सघो द्वारा ये शिकायते की जा रही थी कि सरकारी आकडो मे वृद्धि का अनुमान कम लगाया गया। क्योकि इनमे क्रय की जाने वाली वस्तुओ की किस्म मे गिरावट पर कोई ध्यान नहीं दिया गया और वस्त्रो जैसी वस्तुओ पर जिसमे औसत से अधिक मूल्य वृद्धि हुई, बहुत कम "भार" (Weight) अथवा महत्व दिया गया। कभी-कभी यह राय दी गई है कि केलोरीज के स्तर अथवा खाद्य-मूल्यों को अपनाकर तथा

विभिन्न वस्तुओं को पृथक रूप से उनमें पाई जाने वाली कलोरीज की संख्या के आधार पर बराबर करके इस कठिनाई को दूर किया जा सकता है। किन्तु इसमें सन्देह है कि केवल खाद्य पर विचार करने की दशा में भी यह पर्याप्त होगा। वैज्ञानिकों द्वारा आहार में विटामिनों और खनिजों के संतुलन पर पिछले वर्षों से दिये गये महत्व के संदर्भ में केवल केलोरीज के विषय में लगाये गये अनुमान स्पष्टतः पूर्ण नहीं माने जा सकते। खाद्य के अतिरिक्त अन्य किसी भी वस्तु की दशा में जहां मनोवैज्ञानिक और विशुद्ध रूप में शारीरिक विचार शामिल होते हैं इस प्रकार का भौतिक स्तर हमें सहायता नहीं कर सकता।

मूल कठिनाई यह है कि जीवन स्तर, जिसकी तुलना की जाती है, कोई निश्चित परिमाण या मात्रा नहीं है और उसे ठीक-ठीक मापा नहीं जा सकता। वस्तुपरक रूप में जीवन स्तर की परिभाषा इस प्रकार की जा सकती है कि यह कुछ मनोवैज्ञानिक एवं शारीरिक आवश्यकताओं की संतुष्टि[1] का साधन है, अथवा आत्मपरक रूप में कुछ अंश तक आनन्द एवं इच्छाओं की पूर्ति का एक साधन है, किन्तु किसी भी दशा में जीवन स्तर के विषय में यद्यपि यह कहा जा सकता है कि वह अधिक है अथवा कम है, और इसलिये इसकी तुलना की जा सकती है, किन्तु इसे एक दी हुई राशि में अधिक या कम के रूप में व्यक्त नहीं किया जा सकता। अतः जब हम अंकों में जीवन स्तर को व्यक्त करने अथवा मापने का प्रयत्न करते हैं तो यही कहा जायगा कि हम किसी अमापनीय वस्तु को अपने स्वयं के किसी अलग मापदण्ड से उसी प्रकार से माप रहे हैं जैसे कि एक परीक्षक अपने परीक्षार्थियों की बुद्धि की तुलना अंकों (Marks) द्वारा करता है। प्रत्येक दशा में तुलना करते समय हम अपने तुलना के मापदण्ड को जिस परिशुद्ध रीति से प्रयोग में लाते हैं, वह अधिकांशतः स्वेच्छिक ही होगी। हम तो केवल इतना ही कर सकते हैं कि यह ध्यान रखें कि विभिन्न वस्तुओं को माप के गलत क्रम में न रखें और साथ ही त्रुटि की सम्भावनाओं को न्यूनतम कर दें।

इस स्थिति को हल करने का सबसे सरल तरीका यह है कि किसी विशेष काल अथवा देश से सम्बद्ध बजट की तुलना अन्य कालों अथवा देशों के उसी बजट के क्रय की लागत से की जाय। इस देश में श्रम-मन्त्रालय के निर्वाह-व्यय सूचनांक के विषय में जो किसी दिये हुये "आधार वर्ष" में सेम्पल बजट पर आधा-

---

1. 'आवश्यकताओं' (needs) को संख्यात्मक रूप में व्यक्त किया जा सकता है, जबकि 'इच्छाओं (desires) को सम्भवतः नहीं किया जा सकता। किन्तु यदि यह मान भी लिया जाय कि शारीरिक आवश्यकता को कैलोरीज या इसी प्रकार के अन्य किसी माप में संख्यात्मक रूप में व्यक्त किया जा सकता है, तो भी अभी तक स्थिति यह है कि मनोवैज्ञानिक आवश्यकताओं को इस प्रकार व्यक्त नहीं किया जा सकता।

रित होता है मे यही रीति अपनाई जाती है और सन् 1905-9 मे ब्रिटिश व्यापार मण्डल द्वारा विभिन्न देशो के निर्वाह व्यय की जाच करने मे भी यही रीति अपनाई गयी थी जिसके अन्तर्गत एक औसत अगरेजी या आग्ल बजट को लेकर विभिन्न देशो में उस बजट के व्यय के विषय में छानबीन की गयी। यह रीति तुलना की जाने वाली ऐसा दशाओ में जिनमे वास्तविक बजट में अधिक अन्तर नही होता, अधिक सन्तोषजनक होती है। किन्तु जहा व्यवहार में प्रयुक्त बजट में पर्याप्त अन्तर होता है, वहा अनोखे तथा विरोधी परिणाम दिखाई देते हैं और वे इस बात पर निर्भर होते है कि विभिन्न बजटों में से किसे आधार माना गया है। उदाहरण के लिये, 1924 में 'लीग आफ नेशन्स' के अन्तर्राष्ट्रीय श्रम कार्यालय ने यह छानबीन की कि विभिन्न बडे शहरो में एक बढई की मजदूरी में कितनी वस्तुए क्रय की जा सकती थी। किसी ब्रिटिश परिवार द्वारा उपभोग की जाने वाली खाद्य वस्तुओ के स्टोकहोम में मूल्य पर जब विचार किया गया तो ज्ञात हुआ कि लन्दन मे एक ब्रिटिश बढई की मजदूरी की क्रय शक्ति की तुलना में स्वीडन के बढई की मजदूरी की क्रयशक्ति 8 प्रतिशत कम थी। किन्तु जब स्वीडिश परिवार द्वारा साधारणत उपभोग की जाने वाली खाद्य वस्तुओ पर विचार किया गया तो ज्ञात हुआ कि लन्दन मे एक ब्रिटिश बढई की मजदूरी की क्रय शक्ति की तुलना में स्टोकहोम में एक स्वीडिश बढई की मजदूरी की क्रय-शक्ति 9 प्रतिशत अधिक थी। एक रीति के आधार पर वास्तविक मजदूरी लन्दन की अपेक्षा स्टोकहोम में 8 प्रतिशत कम थी, तो दूसरी के आधार पर 9 प्रतिशत अधिक थी। इसी प्रकार एक रीति के अनुसार लन्दन के बढई की मजदूरी की तुलना में बर्लिन के बढई की वास्तविक मजदूरी 46 3 प्रतिशत थी, तो दूसरी के आधार पर यह 53 6 प्रतिशत थी।

इस कठिनाई को एक ऐसी स्वेच्छिक युक्ति के द्वारा हल किया जा सकता है जिसके अन्तर्गत विभिन्न रीतियो द्वारा प्राप्त परिणामो का औसत निकाल लिया जाता है। विभिन्न समयो में एक ही स्थान पर वास्तविक मजदूरी की तुलना करते समय प्राय "शृखला रीति (Chain method) को अपनाने की सलाह दी जाती है। उदाहरण के लिये, सन् 1914 के निर्वाह-व्यय की तुलना सन् 913 के निर्वाह व्यय से सन् 1913 के वास्तविक बजट के आधार पर की जा सकती है और फिर सन् 1915 की सन् 1914 से तुलना 1914 के वास्तविक बजट के आधार पर की जा सकती है। और इसी प्रकार आगे के वर्षों की भी तुलना हो सकती है। इसमे प्रमुख कठिनाई व्यावहारिक हैं अर्थात यह रीति जटिल है और इसमे उस बजट को निरन्तर सशोधित करते रहना होता है जिसके आधार पर गणना की जाती है। वास्तविक मजदूरी की अन्तर्राष्ट्रीय तुलना मे जिसे सन् 1923 मे ब्रिटिश श्रम मत्रालय द्वारा आरम्भ किया गया और फिर सन् 1924 मे अन्तर्राष्ट्रीय श्रम कार्यालय द्वारा जारी रखा गया, विभिन्न खाद्य-पदार्थों के बजटो या "टोकरो" की श्रेणी (Series)

का अपनाया गया जिसमे प्रत्येक 'टोकरे" मे राष्ट्रों के किसी विशिष्ट समूह मे श्रमिक वर्गों द्वारा उपभोग मे लाई जाने वाली विभिन्न खाद्य-वस्तुओं के अनुपात मे निर्मित था। प्रत्येक राष्ट्रीय टोकरे–जैसे ब्रिटिश टोकरा, स्केन्डीनेवियन, मध्य योरोपियन, को विभिन्न शहरों जैसे लन्दन, बर्लिन, स्टोकहोम, पेरिस, फिलाडेलफिया आदि में क्रय करने की लागत का हिसाब लगाया गया। फिर इन अनेक "टोकरों" की लागत की तुलना विभिन्न शहरों मे पाई जाने वाली मजदूरी से की गयी और उसे प्रतिशत के रूप मे व्यक्त किया गया तथा प्रत्येक शहर के विषय मे ज्ञात परिणामों का औसत निकाल कर उसे उस शहर की वास्तविक मजदूरी का सूचनांक माना गया। इस रीति के एक उदाहरण के रूप में तीन शहरों के बीच निम्न आधार पर तुलना की गयी है।

विभिन्न नगरों मे एक बढ़ई की मजदूरी की क्रय-शक्ति का अनुपात

	ब्रिटिश टोकरा	स्केन्डीनेवियन टोकरा	मध्ययोरोपियन टोकरा	औसत
लन्दन मे	100.0	100	100	100
स्टोकहोम मे	92 0	109 0	91.4	97 4
बर्लिन मे	46 3	53 6	49 3	49.7

इस देश मे निर्वाह-व्यय के विषय मे सरकार द्वारा (श्रम मन्त्रालय) प्रकाशित सूचनांक द्वितीय विश्व युद्ध के बाद तक व्यय के ऐसे ढांचे पर आधारित थे जिनका आधार श्रमिक वर्ग के पारिवारिक बजटों की वह जांच थी जो प्रथम विश्व युद्ध से पूर्व की गयी थी। अत व्यय की विभिन्न मदों को प्रदान किया जाने वाला भार अथवा सापेक्ष महत्व उस वास्तविक महत्व से नितान्त भिन्न था, जो उन्हे सन् 1940 के बाद के वर्षों मे पारिवारिक व्यय मे प्राप्त था। उदाहरण के लिये, इस पुराने सूचनांक में सम्मिलित की गयी खाद्य-वस्तुओं मे द्वितीय विश्व युद्ध के ठीक पहले एक औसत श्रमिक परिवार द्वारा किये जाने वाले वास्तविक खाद्य-उपभोग का दो-तिहाई भाग ही सम्मिलित था–आलू के अलावा अन्य फल एवं सब्जियां सम्मिलित नही की गयी थी, रोशनी के लिये बिजली के स्थान पर मोमबत्तियों को शामिल किया गया था और रेयन के स्थान पर साधारण अथवा छपे हुए सूती वस्त्रों को ही पहनावे मे सम्मिलित किया गया था। अत कोई आश्चर्य नही कि युद्ध के वर्षों मे सरकारी सूचनांक मे 31 प्रतिशत तक की ही वृद्धि (सितम्बर 1939 से जून 1947 तक) हो सकी, जबकि वास्तविक वृद्धि (जैसाकि युद्ध के पहले के वास्तविक व्यय के आधार पर प्रोफेसर आर. जी. डी. एलन द्वारा हिसाब लगाया गया) लगभग 70 प्रतिशत थी।

जून सन् 1947 मे एक नवीन "अन्तरिम" सूचनाक जारी किया गया जा युद्ध से पूर्व की गयी बजट-सम्बन्धी जाच पर आधारित था। जाच किये जाने के बाद से तत्सम्बन्धी वस्तुओ के सापेक्ष मूल्य परिवर्तनो के आधार पर युद्ध से पहले की गयी इस जाच द्वारा प्रदर्शित "भारो" को व्यवस्थित किया गया था और इस नवीन सूचनाक के लिये जून 1947 मे प्रचलित मूल्य-स्तर को आधार माना गया था तथा उसे 100 के बराबर व्यक्त किया गया। जनवरी सन् 1952 मे इसमे एक और परिवर्तन किया गया सन् 1950 क अनुमानित उपभोग के ढाचे के आधार पर भारो को सशोधित किया गया और उन्हे जनवरी सन् 1952 मे प्रचलित मूल्यो के अनुसार व्यवस्थित किया गया। किन्तु यह परिवर्तन इस प्रकार से किया गया कि पिछले सूचनाक के उपरान्त तथा पिछले आधार (अर्थात् जून सन् 1947) को ही आधार मान कर सशोधित सूचनाक निर्मित किया गया। प्रस्तुत पुस्तक के लिखने के समय तक, प्रतिमाह मूल्य-स्तर मे (प्रभारित) औसत प्रतिशत परिवर्तन की गणना करने का यही आधार है।

सन 1947 से पूर्व के पुराने सूचनाको मे, सन् 1947 और 1952 के मध्य के अन्तरिम सूचनाको मे और फरवरी सन् 1952 से व्यय के प्रमुख वर्गों के "भारों" (प्रतिशत के रूप मे व्यक्त) की एक नजर मे तुलना करने मे निम्न तालिका सहायक होगी।

	पुराना सूचनाक	अन्तरिम सूचनाक 1947	.1952
खाद्य	60	34 8	39 9
किराया एव दरें	16	8 8	7.2
वस्त्र	12	9.7	9 8
ईंधन एव रोशनी	8	6 5	6.6
पारिवारिक टिकाऊ वस्तुए	4	7 1	6.2
विविध वस्तुए		3.5	4 4
सेवाए		7 9	9.1
पेय		21.7	7.8
तम्बाकू			9.0
	100	100	100

6 वास्तविक मजदूरी मे परिवर्तन'—वर्तमान शताब्दी से पूर्व मजदूरी म होने वाले परिवर्तनो के अध्ययन क लिये उपलब्ध आकडे बहुत अपूर्ण थे। मुद्रा मूल्यों मे होने वाले परिवर्तनो के सूचनाक उन्नीसवी शताब्दी मे उपलब्ध नही थे और उस समय उपलब्ध मूल्यों के रिकार्ड पर आधारित अनुमानो का ही प्रयोग किया जा सकता है। उन्नीसवी शताब्दी मे नकद मजदूरी मे होने वाले परिवर्तनो के लिये डाक्टर बाउले ने निम्न सूचनाक सकलित किये हैं

1800–10	55–65
1820–30	65
1840–50	60
1860–70	75
1870–80	95
1880–90	90
1890–99	100

इसे वास्तविक मजदूरी के सूचनाक मे बदलने के लिये हमे इस बात को ध्यान मे रखना पडेगा कि 1800 से 1900 के बीच सामान्यत मूल्य लगभग आधे हो गये-सन् 1848 तक वे गिरे फिर सन् 1860 तक उनमे लगभग 14 प्रतिशत की वृद्धि हुई और पुन 1870 तथा 1895 के बीच उनमे लगभग 25 प्रतिशत की कमी हुई। अतएव ऐसा प्रतीत होता है कि इस शताब्दी मे वास्तविक मजदूरी मे तीन स चार गुनी वृद्धि हुई। शताब्दी के अन्त मे वास्तविक मजदूरी म होन वाली वृद्धि मे स्थिरता आ गयी और सन् 1900 के बाद इनमे गिरने की प्रवृत्ति रही क्योंकि सन् 1896 और 1914 के बीच मूल्यो मे पुन वृद्धि हुई। प्रथम विश्व युद्ध से पहले क इन सत्रह या अठारह वर्षों मे नकद मजदूरी मे यद्यपि वृद्धि हुई, फिर भी व मूल्यों की तुलना मे कम रही।

युद्धकालीन मुद्रास्फीति क समय मूल्यों मे होने वाली तीव्र वृद्धि क साथ-साथ नकद मजदूरी की दरो मे होने वाली वृद्धि मूल्य-वृद्धि की तुलना मे पिछड गयी, यद्यपि पिछले पृष्ठो (अनुच्छेद 4) मे वर्णित कारणो से आय, मजदूरी की दरो की अपेक्षा अधिक शीघ्रता स बढी। युद्ध के तत्काल बाद क दो वर्षों मे मात्र-भाव करने की अप्रत्याशित सुदृढ स्थिति का तथा श्रमिक-सघो की गतिविधियो पर युद्धकालीन प्रतिबन्धो की समाप्ति का लाभ उठाकर श्रमिक अब तक हुई क्षति की कुछ पूर्ति करने मे सफल हुये। फलस्वरूप सन् 1920 के अन्त म और सन् 1921 के आरम्भ तक, जब मूल्य फिर गिरने आरम्भ हुये थे, वास्तविक मजदूरी की दरे सन् 1914 के स्तर की तुलना मे सम्भवत 5 प्रतिशत अधिक थी। सन् 1924 तक वास्तविक मजदूरी की दरें लगभग युद्ध से पूर्व के स्तर पर ही थी किन्तु औसत वास्तविक आय युद्ध पूर्व की अपेक्षा 12 प्रतिशत अधिक थी—यह एक ऐसा

वृद्धि थी जो युद्ध-पूर्व के कुछ वर्षो की अपेक्षा 1920 से प्रारम्भ होने वाली शताब्दी मे पाई जाने वाली बेकारी के ऊचे स्तर के कारण लगभग मिटा दी गई थी ।

सन् 1929 के बाद के वर्षो मे मूल्यो मे विशेषत आयातित खाद्य पदार्थों के मूल्यो मे और अधिक कमी हुई और सन् 1929 तथा 1933 के बीच मे निर्वाह व्यय मे हुई 15 प्रतिशत की कमी की तुलना म, नकद मजदूरी मे केवल 5 या 6 प्रतिशत की ही कमी हुई, अत बढती हुई बेकारी के इन वर्षों में जो अपने काम पर लगे रहे उनकी वास्तविक मजदूरी मे तीव्र वृद्धि दिखाई दी । सन् 1930 की शताब्दी के अन्त तक निर्वाह-व्यय 1924 की तुलना मे पुन 90 प्रतिशत बढ चुका था । किन्तु मजदूरी की दरो मे भी वृद्धि हुई थी । अत द्वितीय विश्व युद्ध के प्रारम्भ के समय 1924 की तुलना मे वास्तविक मजदूरी का स्तर लगभग 15 या 16 प्रतिशत तथा औसत वास्तविक आय का स्तर लगभग 21 प्रतिशत अधिक था ।[1]

इसका अर्थ यह हुआ कि कुल मिलाकर श्रमिक वर्गों की आय पर बढी हुई बेकारी के प्रभावो को दृष्टिगत रखते हुए उनकी वास्तविक आय के औसत स्तर मे शताब्दी के प्रारम्भिक वर्षो की अपेक्षा एक चौथाई से कुछ अधिक की वृद्धि हो चुकी थी । इसी अवधि में अधिकाश उद्योगो मे काम के सामान्य साप्ताहिक घटो मे लगभग 10 प्रतिशत की कमी हो चुकी थी और इस प्रकार कुल मिलाकर श्रमिको को अधिक अवकाश का लाभ प्राप्त हो रहा था । इसके विपरीत, कार्य की तीव्रता अर्थात् प्रति कार्य-घटे श्रमिक द्वारा व्यय की जाने वाली अपेक्षित श्रम-शक्ति अधिक दबाव डालने वाली व तेज गति वाली युक्तियो से भरपूर नई यान्त्रिक प्रक्रियाओ के फलस्वरूप अनेक उद्योगो मे बढ गयी थी । केवल 1924 और 1929 के बीच के पाच वर्षो मे ही प्रति श्रमिक उत्पादन मे 10 प्रतिशत की वृद्धि हुई और कोलिन क्लार्क महोदय के द्वारा यह अनुमान लगाया गया है कि पच्चीस वर्ष पहले की अपेक्षा, सन् 1930 की दशाब्दी के मध्य मे प्रति व्यक्ति उत्पादन 15 से 20 प्रतिशत अधिक था ।[2] एक अन्य अनुमान के अनुसार 1924 और 1930 के मध्य प्रति व्यक्ति उत्पादन वृद्धि 12 प्रतिशत थी तथा दूसरे के अनुसार यह 1930 और 1934 के बीच 10 से 11 प्रतिशत थी ।[3] इसकी गणना करना कठिन है कि इस वृद्धि मे

1. लन्दन एण्ड कैम्ब्रिज इकोनोमिक सर्विस बुलेटिन्स, ए सी पीगू, वेज स्टेटिस्टिक्स एड वेज पोलिसी (सन् 1949 के लिए दि स्टाम्प मेमोरियल लेक्चर) पृष्ठ 7–9
2 नेशनल इनकम एण्ड आउट ले पृष्ठ 269
3 विट बाउडेन (Witt Bowden) 'दि प्रोडक्टीविटि आव लेबर इन ग्रेट ब्रिटेन,' जून 1937 के 'दि जर्नल आव पोलिटिकल इकोनोमी' में । सन् 1924 और 1930 की तुलना का सम्बन्ध उन उद्योगों से है जिन्हें ग्रेट ब्रिटेन की उत्पादन गणना (Census of Production) तथा राष्ट्रीय आय में सम्मिलित किया गया, और सन् 1930 और 1939 के बीच तुलना का सम्बन्ध उन उद्योगों से है जिन्हें व्यापार-मण्डल के उत्पादन सूचनाक में सम्मिलित किया गया ।

मे कितनी वृद्धि ऐसी नवीन यान्त्रिक युक्तियो के कारण थी जिनमे अधिक दबाव या शारीरिक श्रम के खिंचाव की अपेक्षा नहीं होती, अथवा कहा तक उत्पादन प्रक्रिया मानवीय श्रम शक्ति पर अधिक भार डालती है। किन्तु इस तथ्य को स्पष्टत ध्यान मे रखना ही होगा कि न्यूनाधिक रूप मे कार्य की तीव्रता मे कुछ अशो तक वृद्धि हुई है।

प्रथम एव द्वितीय विश्व युद्ध मे एक विशेष भिन्नता यह थी कि प्रथम युद्ध की अपेक्षा द्वितीय युद्ध के समय मूल्यो मे वृद्धि कम हुई। मूल्य-नियन्त्रण एव राशनिंग की अधिक प्रभावशीलता और व्यापकता तथा इसके साथ मूल्यो को बढने से रोकने के अभिप्राय से सरकार द्वारा आधारभूत आवश्यकताओ के 'कठोर राशन' को सस्ते मूल्यो पर बेचने की नीति के कारण यह सम्भव हो सका। निर्वाह व्यय के सरकारी सूचनाक मे युद्ध पूर्व की अपेक्षा (ग्रीष्म 1945) तक 33 प्रतिशत से अधिक की वृद्धि नही हुई। किन्तु इस सूचनाक मे (जैसा कि हम देख चुके हैं) अधिक महगी ऐसी खाद्य-सामग्रियो एव अन्य विविध वस्तुओ के प्रति, जिनके दाम बहुत अधिक बढ गये थे, (Weight) प्रदान करने की प्रवृत्ति रही, और अधिक महगे राशनमुक्त पदार्थों के व्यय मे राशनिंग का फलस्वरूप हुये परिवर्तनो पर इसमे कोई विचार नही किया गया। सामान्य खुदरा वस्तुओ के तथाकथित "कोषागार सूचनाक" (Treasury Index) मे सामान्यतया 54 प्रतिशत की वृद्धि दृष्टिगोचर हुई, और यह स्वीकार करना उचित होगा कि श्रमिको के निर्वाह-व्यय में हुई 'वास्तविक' वृद्धि प्रथम अको (33 प्रतिशत) की अपेक्षा दूसरे अको (54 प्रतिशत) के अधिक निकट थी।[1] इस बीच योरोप मे युद्ध के पश्चात् तक मजदूरी की दरो मे 50 प्रतिशत तथा आय मे (अनुच्छेद 4 के अन्तर्गत उल्लिखित कारणो को ध्यान मे रखते हुए) 80 प्रतिशत की वृद्धि हुई। अत यह सँभव प्रतीत होता है कि युद्ध के वर्षो मे निर्धारित कार्य की मात्रा तथा उसी प्रकार के कार्य के लिये दी जाने वाली मजदूरी की दरें लगभग स्थिर रही, किन्तु यदि समयोपरि-कार्य (Overtime-work) पदवृद्धि और उजरत के आधार पर भुगतान वाले कार्यो मे उत्पादन वृद्धि पर विचार किया जाय, तो यह प्रतीत होगा कि साप्ताहिक वेतनो के वास्तविक मूल्यो मे औसतन लगभग 20 प्रतिशत की वृद्धि हुई। युद्ध के बाद मे मजदूरी की दरो और

---

1 आक्सफोर्ड इन्स्टीट्यूट आव स्टेटिस्टिक्स की बुलेटिन (13 अक्तूबर 1945) में "श्रमिकों के सूचनाक" के विषय में श्री जे. एल. निकल्सन द्वारा किये गये परिकलन (Calculation) के अनुसार यह सन् 1938 की तुलना में सन् 1944 में 50 प्रतिशत अधिक था। इसमें बाजार मूल्यों पर अप्रत्यक्ष करों एवं उपदानों (Subsidies) दोनों का ध्यान में रखा गया था। किन्तु श्री निकल्सन ने यह बतलाया कि 'उपभोक्ता के विकल्प की स्वतन्त्रता को कम करने में राशनिंग एवं अभाव के प्रभावों के लिये" इनके सूचनाक में कोई व्यवस्था नहीं की गयी।

निर्वाह व्यय मे लगभग समान वृद्धि हुई है, यद्यपि औसत आय फिर भी अधिक रही है, किन्तु प्रोफेसर ए सी. पीगू द्वारा हाल मे लगाये गये अनुमानो से ज्ञात होता है कि 1938 की अपेक्षा 195 मे वास्तविक मजदूरी की दरें 3 प्रतिशत और "कार्यशील श्रमिको की औसत वास्तविक आय" 21 प्रतिशत अधिक थी।[1]

अब तक हमने केवल औसत पर ही विचार किया है। किन्तु यह सन्देह व्यक्त किया जा सकता है कि एक ऐसी अवधि की, जिसमे विभिन्न श्रेणियो, विभिन्न उद्योगो एव विभिन्न स्थानो की आय के विषय मे पर्याप्त परिवर्तन हुए हो, वास्तविक आय के औसत आकडो का क्या महत्व हो सकता है। सन् 1914 के पहले की अपेक्षा दक्ष (Skilled) एव अदक्ष (Unskilled) श्रमिको की आय के अन्तर मे कमी तथा अधिक सम्पन्न एव विकासशील उद्योगो (अधिकांशत आन्तरिक बाजार के लिये उत्पादन करने वाले) और एसे शिथिल व्यवसायो (अधिकांशत निर्यात से सम्बद्ध) मे, जिनमे रोजगार के अवसरो मे तेजी से कमी हो रही थी, मजदूरी के परिवर्तनो मे अत्यधिक असमानतायें, दोनो युद्धो के बीच की अवधि मे हुए परिवर्तनो म महत्वपूर्ण थी। द्वितीय विश्व युद्ध के समय एव उसके पश्चात् दक्ष एव अदक्ष मजदूरी के अन्तर मे और कमी हुई जैसा कि निम्नलिखित तालिका से ज्ञात होगा जिसमे 1914,1920,1939 और 1950 मे अदक्ष श्रमिको की मजदूरी की दरो को दक्ष श्रमिको की मजदूरी की दरो के प्रतिशत के रूप मे दिखलाया गया है।[2]

	भवन निर्माण	जहाज निर्माण	इन्जीनियरिंग	रेलवे
1914	66·5	55·2	8 6	54·3
1920	81·0	77.2	78·9	81·2
1939	76 3	73·4	75·6	61 5
1950	4·1	81 7	84·7	77·4

जहा तक विभिन्न उद्योगो के मजदूरी सम्बन्धी परिवर्तनो का प्रश्न है, पहले के शिथिल उद्योगो मे से अनेक को, विशेषत. कोयला-खनन एव कृषि और कुछ

1. 13 जुलाई सन् 1955 के 'दि टाइम्स' में लेख। युद्धोत्तर काल में बहुत कम बेरोजगारी को ध्यान में रखकर प्रोफेसर पीगू ने यह अनुमान लगाया कि "काम पर लगे हुए श्रमिकों एव बेरोजगार व्यक्तियों की औसत वास्तविक आय" में सन् 1938 की अपेक्षा 32 प्रतिशत वृद्धि हुई थी।
2 आक्सफोर्ड बुलेटिन आव स्टेटिस्टिक्स, अप्रैल 1951, पृष्ठ 111 में के जी. जे सी. नोल्स तथा डी. जे. रोबर्टसन के एक लेख से।

सीमा तक सूती वस्त्र को युद्ध के दौरान अथवा उसके बाद उन उद्योगों में श्रम की माग में हुई वृद्धि का लाभ प्राप्त हुआ है और उन्होंने औसत व्यवसायों की तुलना में, तथा रेल और यातायात की अन्य कुछ शाखाओं की तरह के ऐसे व्यवसायों की तुलना में, जिनमें द्वितीय विश्व युद्ध से पहले की अपेक्षा औसत परिवर्तनों की तुलना में मजदूरी की दरों और आय में कम वृद्धि हुई है, अपनी सापेक्ष स्थिति में सुधार किया है।

7. निर्धनता —प्रथम विश्व युद्ध से पहले सीबोहम रोउन्ट्री महोदय के द्वारा एक श्रमिक, उसकी पत्नी और तीन बच्चों को न्यूनतम जीवनस्तर प्रदान करने के लिए आवश्यक मजदूरी के बारे में अन्वेषण किया गया। यार्क नगर[1] में निर्धनता की स्थिति की जाच करने के लिये सन् 1899 में रोउन्ट्री महोदय के द्वारा अपने प्रारम्भिक अन्वेषण में अपनाया गया स्तर, नितान्त भौतिक अस्तित्व का निम्नतम स्तर था जिसके नीचे परिवार को भुखमरी या अर्द्ध भुखमरी की स्थिति में माना जा सकता था। इसमें अधिकांशतः शाकाहारी भोजन सम्मिलित था। इसमें बच्चों के लिये वस्त्रों की व्यवस्था तो थी, किन्तु वह दरिद्रालयों द्वारा उनमें रहने वाले बच्चों के लिये की जाने वाली व्यवस्था की आधी ही थी, तथा इसमें रेल और ट्राम के किराये अथवा समाचार पत्र और तम्बाकू जैसी वस्तुओं के लिये कोई व्यवस्था नहीं थी। आगे चलकर रोउन्ट्री महोदय ने एक दूसरा स्तर अपनाया जिसमें कुछ थोड़ा आराम की वस्तुएँ सम्मिलित की गयी और जिसे ऐसे सम्मानित अस्तित्व और 'न्यूनतम मानवीय आवश्यकताओं के स्तर के नाम से परिभाषित किया गया जिसके नीचे यद्यपि वस्तुतः भुखमरी की स्थिति में न होते हुये भी किसी श्रमिक परिवार के विषय में यह कहा जा सकता है कि वह दरिद्रता की स्थिति में है–एक ऐसा स्तर" जिससे नीचे किसी भी वर्ग के श्रमिक को जीवन व्यतीत करने के लिये बाध्य नहीं किया जाना चाहिये।[2] सन् 1914 में प्रचलित मूल्यों के आधार पर उनके अनुमान के अनुसार प्रथम स्तर को बनाये रखने के लिये आवश्यक साप्ताहिक मजदूरी 26 शिलिंग तथा द्वितीय स्तर को बनाये रखने के लिये यह 35 शिलिंग 3 पेंस था। द्वितीय विश्व युद्ध की समाप्ति पर प्रचलित मूल्यों के आधार पर इसके समकक्ष मजदूरी प्रथम दशा में 45 शि. और 50 शि. के बीच और द्वितीय दशा में 65 शि. तथा 75 शि. के बीच माना जायगा। बाद में इसी प्रकार के अन्वेषण संयुक्त राज्य अमेरिका और आस्ट्रेलिया में किये गये जिनमें राउन्ट्री महोदय के द्वारा अपनाये गये स्तर की अपेक्षा 15 से 25 प्रतिशत ऊँचा स्तर अपनाया गया। सन् 1930 से प्रारम्भ होने वाली दशाब्दी में राउन्ट्री महोदय ने अपने

---

1. देखिये 'पावर्टी' ए स्टडी आव टाउन लाइफ
2. देखिये 'द ह्यूमन नीड्स आव लेबर'

"मानवीय आवश्यकता वाले" स्तर की खाद्य आवश्यकताओ मे हाल के वर्षो मे मानव-पोषण (human nutrition) मे किये गये वैज्ञानिक अध्ययनो के आधार पर कुछ सशोधन कर दिया और यह हिसाब लगाया कि सन् 1 36 मे प्रचलित मूल्यो के आधार पर इस स्तर की लागत 53 शि 9 पेंस थी। यहाँ यह ध्यान देने योग्य है कि यह स्तर अत्यन्त विनम्र स्तर है और इसमे, यद्यपि विविध व्ययो—जैसे बीमे की किश्तो, किरायो, समाचार-पत्रो, तम्बाकू एव मनोरजन के लिये 9 पे० प्रति सप्ताह की व्यवस्था है, फिर भी इसमे ताजा दूध के बजाय सघनित (जमाया हुआ) दूध की ही व्यवस्था है और यह एक ऐसे अदक्ष श्रमिक के उपभोग के स्तर का प्रतिनिधित्व करता है जिसके लिये यह मान्यता निहित है कि वह "कठिन" कार्य न करके "साधारण" कार्य सम्पन्न कर रहा है तथा उसे वेस्ट एण्ड (West End) के बैठे-बैठे काम करने वाले नागरिक के आहार की तुलना मे लगभग आधा पोषण ही प्राप्त होता है। सन् 1906-7 मे व्यापार-मण्डल द्वारा उस वर्ष के लिये की गई मजदूरी-गणना (Wage Census) के अनुसार पुरुष श्रमिकों की औसत आय राउन्ट्री महोदय के मानवीय आवश्यकताओ वाले स्तर से कम थी, यद्यपि वह उनके निम्न-भुखमरी के स्तर से कही अधिक थी। किन्तु कम मजदूरी पाने वाले श्रमिकों का एक बहुत बडा अनुपात निम्नतम स्तर से भी नीचे था—राउन्ट्री महोदय ने यार्क मे किये गये अन्वेषण के आधार पर यह ज्ञात किया कि श्रमिक वर्गो क 15 प्रतिशत परिवारो की आय नितान्त भौतिक अस्तित्व को बनाये रखने के लिये भी अपर्याप्त थी। सन् 1935 मे साप्ताहिक आय के विषय म श्रम मत्रालय द्वारा की गयी जाच के अनुसार अनेक खनिज प्रधान जिलो के खनिजों की आय इस अपेक्षाकृत नीचे स्तर से कुछ ही अधिक थी, किन्तु राउन्ट्री महोदय के सशोधित मानवीय आवश्यकता वाले स्तर से 10 शि. कम थी, सूती वस्त्र उद्योगो मे औसत आय (जिसमे अधिकाश महिला श्रमिको की आय सम्मिलित है) निम्न स्तर के निर्वाह के लिये कठिनाई से पर्याप्त थी, चमडा उद्योग मे यह इससे 8 शिलिंग अधिक थी, किन्तु उच्च स्तर से 5 शि नीचे थी, जहाज-निर्माण और इन्जीनियरिंग उद्योगो मे यह मानवीय आवश्यकता वाले स्तर से कुछ ही अधिक थी और छपाई, कागज और भवन-निर्माण उद्योगों में यह इससे अनेक शिलिंग अधिक थी।

दोनो युद्धों के बीच के काल मे, बेकारी की विशाल मात्रा और कोयला, सूती वस्त्र, जहाज निर्माण तथा जहाजी इन्जीनियरिंग जैसे व्यवसायो की गिरी हुई अवस्था निर्धनता के लिये मुख्य रूप से उत्तरदायी थी, जिसका प्रभाव यह था कि पीडित क्षेत्रो मे श्रमिक वर्गो का जीवन स्तर और गिर गया। साथ ही उस समय दो ऐसे तत्व प्रभावशील थे जिनका प्रभाव निर्धनता-रेखा से नीचे आने वाले परिवारो के प्रतिशत को कम करने मे दो विरोधी दिशाओं मे था। इनमे से प्रथम, सबसे कम वेतन वाले अनेक व्यवसायो के लिये व्यापार मण्डल प्रणाली के अन्तर्गत न्यूनतम दरो

की स्थापना थी जिसका युद्ध के तत्काल बाद के वर्षों में पर्याप्त विस्तार हो चुका था। दूसरा घटती हुई जन्म-दर का प्रभाव था जिसके कारण किसी परिवार की आय से पलने वाले बच्चों की संख्या में कमी हुई। सन् 1911 और 1931 के बीच इंगलैंड और वेल्स की समस्त जनसंख्या के अनुपात में पन्द्रह वर्ष से कम आयु वाले बच्चों का प्रतिशत 30.6 से घटकर 25.6 हो गया और चार या इससे अधिक आश्रित बच्चों वाले परिवारों का अनुपात $\frac{1}{5}$ से घटकर $\frac{1}{8}$ रह गया। श्रमिक वर्गों में चूंकि बड़े आकार के परिवारों की निर्धनता-रेखा से नीचे गिर जाने की बहुत अधिक सम्भावना रहती है, इसलिए बड़े परिवारों की संख्या में कमी का निर्धन परिवारों के प्रतिशत पर अत्यधिक प्रभाव पड़ा। इसको कम करने में सहायता देने वाला एक तत्त्व यह भी था कि जनसंख्या वृद्धि की अधिक धीमी गति के कारण जनसंख्या के आयु-ढांचे में परिवर्तन के साथ-साथ कार्यशील आयु से ऊपर की पुरानी पीढ़ी, जिसका पालन उनके बच्चों को करना होता है, नई पीढ़ी की तुलना में अधिक बढ़ गयी थी, जैसा कि पहले सम्भव नहीं था।

डाक्टर बाउले द्वारा सन् 1913 में और पुनः सन् 1924[1] में औद्योगिक नगरों के एक सेम्पल में परिवारों के एक सेम्पल के लिये की गयी जांच में राउन्ट्री महोदय के सुखमरी स्तर से मिलता-जुलता एक स्तर अपनाया गया। इस जांच का सम्बन्ध ऐसी निर्धनता से था जिसे राउन्ट्री ने "प्राथमिक-निर्धनता" (Primary Poverty) की संज्ञा दी अर्थात् ऐसी अवस्था जिसमें आय के सम्पूर्ण भाग को अन्य वस्तुओं की अपेक्षा इस स्तर में सम्मिलित वस्तुओं पर व्यय करने के बाद भी इसे बनाये रखना असम्भव था। सन् 1913 में उन्होंने पता लगाया कि 11–12 प्रतिशत परिवारों की आय इस स्तर को बनाये रखने के लिये आवश्यक आय से कम थी। सन् 1924 में अन्वेषकों द्वारा स्थिति में निश्चित रूप से सुधार होने का उल्लेख किया गया—एक ऐसा सुधार था जो प्रति परिवार आश्रित बच्चों की संख्या में हुई कमी का तथा कुल श्रमिकों के औसत की तुलना में न्यूनतम आय वाले श्रमिकों की स्थिति में अपेक्षाकृत अधिक सुधार का परिणाम था। जांच के अन्तर्गत आने वाले परिवारों के समस्त सदस्य यदि पूर्ण रोजगार की स्थिति में होते तो इस स्तर से निम्न स्तर में सम्मिलित परिवारों का प्रतिशत निश्चय ही 3.6 और 4.7 प्रतिशत के बीच होता। बेकारी एवं कम-कार्य के कारण वस्तुतः जांच में सम्बद्ध सप्ताह में 6.5 से 8 प्रतिशत तक श्रमिक इस स्तर से नीचे थे। किन्तु यहां यह स्मरणीय है कि दोनों युद्धों के बीच के वर्षों में सन् 1924 का वर्ष बेरोजगारी की दृष्टि से अपेक्षाकृत उत्तम वर्ष था (समस्त वर्ग के लिये बेरोजगारी का प्रतिशत सन् 1920 से 1939 के बीच की अवधि में केवल एक वर्ष में इससे

1. बाउले एवं हाग, हैज़ पावर्टी डिमिनिश्ड?

कम था और सन् 1929 म तथा पुन सन् 1939 म इसके बराबर था) "दि न्यू सर्वे आव लाइफ एन्ड लेबर इन लन्दन" ने, खाद्य के विषय मे, ब्रिटिश मेडीकल एसोसियेशन की एक समिति द्वारा स्वास्थ्य और कार्यक्षमता के लिये बतलाये गये न्यूनतम स्तर से भी निम्न स्तर अपनाकर यह प्रतिपादित किया कि 1928 मे (*जो कि रोजगार की दृष्टि से एक और उत्तम वर्ष था*) श्रमिक परिवारो के 9 से 10 प्रतिशत निर्धनता की श्रेणी मे थे। लगभग इसी समय उत्तर के अधिक शिथिल क्षेत्रो मे किये गये सर्वेक्षण के आधार पर ये प्रतिशत इससे कहीं अधिक थे-लन्दन के सर्वेक्षण मे अपनाये गये स्तर के आधार पर ही सन् 1929 मे मर्सीसाइड (Merseyside) और लिवरपूल म किये गये सर्वेक्षणो से ज्ञात हुआ कि इनमे क्रमश 17 और 16 प्रतिशत परिवार निर्धनता की स्थिति मे रह रहे थे,। सन् 1931 के निकृष्ट वर्ष म साउथेम्पटन में यह प्रतिशत 20 था। अन्वेषकों द्वारा ब्रिस्टल के लिये पता लगाया गया कि सन् 1937 जैसे उत्तम वर्ष मे भी वहा श्रमिक परिवारो के 10 से 11 प्रतिशत परिवार ब्रिटिश मेडीकल एसासियशन के स्तर मे नीचे थे। राउन्ट्री महोदय द्वारा सन् 1935-6 मे किये गये नवीन सर्वेक्षण से यह ज्ञात हुआ कि 'प्राथमिक निर्धनता' शताब्दी के आरम्भ मे उसके द्वारा किये गये प्रथम सर्वेक्षण की तुलना मे केवल आधी थी और निर्धनता के एक प्रमुख कारण क रूप मे बेरोजगारी ने नीची मजदूरी का स्थान ले लिया था। कुछ भी हो, इस अपेक्षाकृत सम्पन्न वर्ष मे 31 प्रतिशत परिवार उनके 'मानवीय आवश्यकता-स्तर' की सीमा से नीचे थे।

द्वितीय विश्वयुद्ध के पश्चात् इसी आधार पर सन् 1950 मे रोउन्ट्री महोदय द्वारा एक और अध्ययन किया गया (जिसे सन् 1951 मे बी सी बोहम राउन्ट्री एव जी आर लेबर्स के द्वारा 'पावर्टी एन्ड दि वेलफेयर स्टेट' के नाम मे प्रकाशित किया गया)। इस अध्ययन से उल्लेखनीय सुधार प्रगट हुआ जिसका श्रेय पूर्णतः बेरोजगारी के वस्तुत उन्मूलन एव युद्धोत्तरकालीन 'कल्याण अधिनियमन" (इस शब्दावली म सस्ते खाद्य पदार्थ, पारिवारिक भत्ते, शिशुओ एव स्कूलो के बालको के लिये दुग्ध तथा स्कूलो म भोजन की व्यवस्थाए सम्मिलित की गयीं) को था। इसके विपरीत इससे पूर्व किये गये अन्वेषण मे श्रमिक परिवारो के लगभग 31 प्रतिशत "मानवीय आवश्यकता स्तर" के मापदण्ड के अनुसार प्राथमिक निर्धनता की स्थिति मे थे, तथा सन् 1950 मे इसका प्रतिशत 5 से भी कम था (और यदि परिवारो के प्रतिशत के बजाय व्यक्तियों के प्रतिशत के रूप मे *व्यक्त किया जाय तो यह और भी कम होगा*)। बेरोजगारी और नीची मजदूरी के स्थान पर अब वृद्धावस्था निर्धनता का प्रमुख कारण बन गयी थी। किन्तु यह ध्यान देने योग्य है कि अन्वेषित परिवारो के काफी बडे भाग को इस अध्ययन में अपनायी गयी निर्धनता-रेखा मे कुछ शिलिंग ही अधिक आय

प्राप्त थी (लगभग 8 प्रतिशत परिवार 6 शि. प्रति सप्ताह से भी कम सीमा से इस रेखा से ऊपर थे) और इस कारण यदि "न्यूनतम स्तर" को किंचित ऊपर उठा दिया जाता, अथवा इसके विकल्प के रूप में यदि परिस्थितियों में थोड़ा प्रतिकूल परिवर्तन हो गया होता, तो निर्धनता-प्रतिशत में बहुत कुछ वृद्धि हो जाती।[1] फिर भी सन् 1930 के बाद के वर्षों की स्थिति में अत्यधिक सुधार हुआ है।

निर्धनता का एक लक्षण, जिस पर भूतकाल में सामाजिक अन्वेषकों द्वारा विशेष रूप से बल दिया गया है, यह है कि इसका बच्चों पर (और इसके फलस्वरूप अगली पीढ़ी के स्वास्थ्य पर) विशेष प्रभाव पड़ा है। इसका कारण यह था कि अधिकांशतः बड़े परिवार ही निर्धनता से पीड़ित थे और इसलिये किसी भी समय परिवारों अथवा वयस्कों की अपेक्षा बच्चों का एक बड़ा अनुपात निर्धनता-रेखा से नीचे था। रोउन्ट्री महोदय ने सन् 1935–36 में यॉर्क में किये गये अध्ययन से अनुमान लगाया कि श्रमिक-वर्गों के बच्चों के लगभग आधे अपने बाल्यकाल में पांच वर्ष या इससे अधिक समय तक तथा लगभग एक तिहाई दस वर्ष या इससे अधिक समय तक अल्प-पोषित (Under nourished) थे। घटती हुई जन्म-दर और उसके साथ परिवारों के छोटे आकार के कारण इस समस्या से कुछ मुक्ति मिली, तथा युद्ध के पश्चात् नवीन राष्ट्रीय बीमा योजना के अन्तर्गत सन् 1946 में लागू की गयी बच्चों के लिए भत्तों की प्रणाली एक गम्भीर सामाजिक बुराई के इस पहलू के निराकरण के लिये ही विशेष रूप से प्रतिपादित की गयी थी।

---

1 यदि एक "औसत परिवार" के लिये निर्धनता रेखा 5 पौण्ड से बढ़ाकर 5 पौण्ड 6 शिलिंग कर दी गयी होती (किराये को निकाल कर) तो निर्धनता प्रतिशत 4.6 प्रतिशत के बजाय 12 प्रतिशत होता (देखिये मार्च 1952 के दी इकोनामिक जर्नल, पृष्ठ 173–75 में वर्नन ऐंगस द्वारा की गयी समीक्षा)।

मज़दूरी का भुगतान

3

1 मजदूरी एव उत्पादन की लागत—यह मान्यता कि न्यून मज़दूरी सस्ते उत्पादन और उच्च मजदूरी ऊचे मूल्यो का कारण होते हैं, आर्थिक भ्रान्ति का एक ऐसा उदाहरण है जिससे न सोचने समझने वाले व्यक्ति प्राय ग्रसित रहते हैं। फिर भी यह एक ऐसी भ्रान्ति है जिसे सरलता से दूर नही किया जा सकता है और यहा तक कि वास्तविक मजदूरी के सूचनांक को उत्पादन की श्रम-लागत के सूचनाक की भाति प्रयोग करने के, अभ्यस्त आर्थिक लेखक भी इस भ्राति या त्रुटि से पूर्णतया मुक्त नही होते, किन्तु जैसा कि हम पिछले अध्याय में देख चुके हैं, अनेक कारण ऐसे हैं जो यह सिद्ध करते है कि मजदूरी की दरो अथवा आय मे तथा श्रम की लागत में होने वाले परिवर्तन एक दूसरे से मेल नही खाते हैं।

जब हम किसी निर्धारित उत्पादन की श्रम लागत का उल्लेख करते हैं तो हमारा आशय निम्न दो मे से किसी एक बात से हो सकता है। प्रथम हमारा आशय उत्पादन मे प्रयुक्त कार्य की वास्तविक मात्रा या मानवीय शक्ति से हो सकता है। द्वितीय, हमारा आशय उत्पादन को प्राप्त करने के लिये नियोक्ता द्वारा मजदूरी के रूप मे रखी गई धनराशि अथवा उसके मजदूरी-व्यय (Wage-outlay) से हो सकता है। यदि हम श्रम लागत को प्रथम विचार तक ही सीमित रखें और दूसरे के लिये इसके बजाय मजदूरी-लागत जैसा कोई शब्द

प्रयोग में लावें, तो शायद यह और अधिक स्पष्ट हो सकेगा। कुछ भी हो, यह स्पष्ट हो जाना चाहिए कि पहले अर्थ में प्रयुक्त श्रम-लागत का मजदूरी के स्तर से कोई सम्बन्ध नहीं है तथा यह आवश्यक नहीं कि मजदूरी में होने वाले किसी परिवर्तन से वह प्रभावित हो ही जाय। यह श्रम की भौतिक उत्पादकता के विपरीत है तथा अपने काम को सम्पन्न करने में श्रमिक की दक्षता और उसके द्वारा प्रयुक्त यान्त्रिक उपकरणों की प्रकृति एवं कुशलता का इस पर प्रभाव पड़ेगा। इसके विपरीत किसी वस्तु को उत्पादित करने की मजदूरी-लागत श्रम की उत्पादकता तथा मजदूरी के स्तर दोनों से प्रभावित होगी और इनमें से किसी एक में होने वाले परिवर्तन के कारण इसमें भी परिवर्तन होगा। इनमें होने वाले परिवर्तनों के विरोधी प्रभाव होंगे—अर्थात् किसी निर्धारित उत्पादन के लिए मजदूरी में वृद्धि से मजदूरी-लागत में वृद्धि तथा उत्पादकता में वृद्धि से उसमें गिरावट होगी। अतः मजदूरी में वृद्धि से उस दशा में लागत में कोई वृद्धि नहीं होगी यदि साथ-साथ श्रम की कुशलता में भी समान रूप से वृद्धि हो जाय। एक और तथ्य पर भी ध्यान देना होगा जिसके अन्तर्गत मजदूरी में वृद्धि उत्पादन की लागत में वृद्धि का कारण नहीं होता। वह इस प्रकार है कि जब श्रमिकों द्वारा प्रयुक्त वस्तुओं के मूल्य में गिरावट के कारण वृद्धि नकद मजदूरी में न होकर वास्तविक मजदूरी में होती है। उदाहरण के लिए उन्नीसवीं शताब्दी में आयातित खाद्य पदार्थों के विभेदात्मक रूप में सस्ते होने के कारण वास्तविक मजदूरी में हुई वृद्धि का अधिकांश इसी प्रकार का था तथा इसी कारण इससे उद्योग की मजदूरी लागत में समान वृद्धि नहीं हुई।

किन्तु यह भी एक तथ्य है कि उन्नीसवीं शताब्दी में श्रम की उत्पादकता में पर्याप्त वृद्धि हुई और इस प्रकार, यद्यपि सन् 1800 की अपेक्षा सन् 1900 तक नकद मजदूरी की दर लगभग दो गुनी हो चुकी थी, फिर भी ऐसा मानने का कोई कारण नहीं है कि एक बुशल अन्न, एक टन लोहा अथवा एक जोड़ी जूते के उत्पादन की लागत भी दुगुनी हो गयी थी अथवा बढ़ ही गई थी। और न इससे यह निष्कर्ष निकलता है कि चूंकि एक एशियाई श्रमिक द्वारा प्राप्त मजदूरी इस देश में उसके समकक्ष श्रमिक द्वारा प्राप्त मजदूरी का $\frac{1}{4}$ या $\frac{1}{5}$ है, एशियाई माल मैन्चेस्टर या बर्मिंघम, ब्रैडफोर्ड या डंडी के माल को विश्व के बाजारों से हटा देगा—दोनों दशाओं में श्रम की उत्पादकता समान अंशों में भिन्न हो सकती है। अतः यह स्पष्ट है कि ऊंची और नीची मजदूरी का सम्बन्ध ऊंची और नीची कार्य-कुशलता से है। किन्तु एक महत्वपूर्ण प्रश्न यह रह जाता है कि क्या ऐसी आशा के कोई कारण भी हैं कि वे इस प्रकार परस्पर सम्बन्धित हो सकेंगे। मजदूरी स्तर और कार्य कुशलता के बीच इस सम्बन्ध की ओर लार्ड ब्रैसे (Lord Brassey) ने उस समय ध्यान आकर्षित किया जब उन्होंने पिछली शताब्दी के मध्य में उस सिद्धान्त

का प्रतिपादन किया जो बाद मे "ऊची मजदूरी की मितव्ययिता" (Economy of high wages) के नाम से प्रसिद्ध हुआ। उनके अनेक तर्कों मे से एक यह था कि "यह सर्वथा सम्भव है कि श्रमिकों की मजदूरी मे वृद्धि हो जाने के बावजूद भी उनके द्वारा कार्य को अधिक किफायत या मितव्ययिता से सम्पन्न कर दिया जाय", और इसे सिद्ध करने के लिये उन्होने आयरलैन्ड और इगलैन्ड के बीच-रेल निर्माण की मजदूरी लागत का तुलनात्मक उदाहरण प्रस्तुत किया। यद्यपि दक्षिणी स्टेफोर्डशायर रेलवे के निर्माण के समय उसके पिता के अभिकर्त्ता द्वारा नियुक्त *श्रमिको को दी जाने वाली दैनिक मजदूरी दो वर्ष बाद उसी अभिकर्त्ता द्वारा आयरलैन्ड म किसी रेलवे लाइन के निर्माण के समय दी जाने वाली मजदूरी से दुगुनी थी, फिर भी मजदूरी की दरो मे इतना अधिक अन्तर होते हुये भी आयरिश रेलवे के उप-अनुबन्ध (Sub-Contracts) उन्ही मूल्यो पर दिये गये जो कि स्टेफोर्डशायर मे पहले दिये गये थे।* [1]

ऊची मजदूरी और ऊची कार्य-कुशलता के बीच पाये जाने वाले सम्बन्ध के कारण को ज्ञात करना अधिक कठिन नही है। यदि कोई श्रमिक और उसका परिवार ऊचे जीवन स्तर का आदि है तो उनका स्वास्थ्य तथा उनका शारीरिक एव बौद्धिक बल उस परिवार की अपेक्षा कही अधिक होगा जो निर्धनता एव अल्प-पोषण से पीडित है। हाल मे यह सिद्ध कर दिया गया है कि धनी और निर्धन परिवारो के बच्चो में रोग-निरोधकता और यहा तक कि उनकी ऊचाई तथा अन्य शारीरिक मापो मे भी बहुत अधिक भिन्नता पाई जाती है। और स्वास्थ्य एव शारीरिक बनावट मे भिन्नता के बारे में जो सत्य है वही कार्य-कुशलता मे भिन्नता के विषय मे भी सही है। किन्तु इस महत्वपूर्ण सिद्धान्त को लागू करते समय दो प्रकार की सतर्कताए बरतनी होगी। इस सिद्धान्त से यह निष्कर्ष कदापि नही निकाला जा सकता कि ऊची मजदूरी का अर्थ ऊची कार्य कुशलता है अत नियोक्ताओ के द्वारा अपने श्रमिको को ऊची मजदूरी देना उनके हित मे होगा। *कभी-कभी ऐसा करना उत्तम विनियोग प्रतीत हो सकता है, जिस प्रकार कि कोई ऐसा नियोक्ता जो श्रमिक-वर्ग द्वारा प्रयोग मे लाई जाने वाली वस्तुओ का निर्माण करता है, सर्वत्र ऊची मजदूरी के लिए उपदेश देना लाभदायक समझता है, तथा दूसरो के समक्ष उदाहरण प्रस्तुत करने के उद्देश्य से स्वय अपने श्रमिको को ऊँची मजदूरी देता है। किन्तु कार्य-कुशलता पर उच्च जीवन-स्तर की प्रतिक्रियायें तत्काल नही होती—उनमे से कुछ तो अधिक समय व्यतीत हो जाने के पश्चात् ही प्रगट होती है, और कुछ अत्यन्त महत्वपूर्ण प्रतिक्रियायें पौष्टिकता एव स्वास्थ्य सम्बन्धी अधिक उत्तम दशाओ की बच्चो पर होने वाली प्रतिक्रिया के द्वारा अगली पीढी मे*

1 वर्क एण्ड वेजेज, 69 एव उनके "फारेन वर्क एण्ड इग्लिश वेजेज" को भी देखिये।

अपना प्रभाव दिखलाता है। एक व्यक्तिगत नियोक्ता को इसमें कोई लाभ दिखाई नहीं देता कि वह तो ऊंची मजदूरी दे और कुछ वर्ष बाद कोई अन्य नियोक्ता अथवा नियोक्ताओं का अगला पीढ़ी बढ़ी हुई मानवीय कार्य-कुशलता का लाभ प्राप्त करे। दूसरे शब्दों में चूंकि एक स्वतन्त्र मजदूरी प्रणाली के अन्तर्गत नियोक्ता केवल एक अस्थायी समय के लिये श्रम-शक्ति को किराये पर लेता है तथा श्रमिक पर उसका कोई स्वामित्व अथवा उसकी सेवाओं पर कोई स्थायी ग्रहणाधिकार (Lien) नहीं होता, अतः दास-प्रणाली के विपरीत उस श्रमिक के व्यक्तिगत कल्याण के लिये कम चिन्ता होगी। अतः यह श्रमिक संघों को राजकीय सहायता प्रदान करने और राज्य द्वारा न्यूनतम निर्वाह मजदूरी निर्धारित करने का एक प्रमुख कारण बतलाया गया है। यह परिणाम भी अनिर्धारित नहीं निकलता कि कार्य-कुशलता में होने वाली वृद्धि मजदूरी वृद्धि के अनुपात में ही हो। ऐसे श्रमिकों की दशा में जो निर्धनता स्तर के निकट हैं, यह सही हो सकता है, तथा ऐसे श्रमिकों के लिये जो अल्प-पोषित हैं तथा जो जीवन-यापन की हीन दशाओं एवं बेरोजगारी के भय से आतंकित हैं, उनके जीवन स्तर में एक निश्चित वृद्धि के द्वारा उनकी कार्य-कुशलता में अनुपात से काफी अधिक सुधार हो सकता है। किन्तु यदि इस सिद्धान्त को ऐसे श्रमिकों पर लागू करना है जिनका जीवन-स्तर निर्धनता-रेखा से काफी ऊंचा है तो इस सिद्धान्त की अतिशयोक्ति से दूर रहना आवश्यक होगा। जैसा कि वैज्ञानिकों द्वारा पिछले कुछ वर्षों में किए गए अनुसन्धानों से स्पष्ट हुआ है कि आहार में विभिन्न खनिजों एवं पशु प्रोटीनों (Animal Protein) पर अधिक बल देने से आय के उस स्तर के कारण, जिससे खाद्य पर और विशेषकर अधिक महंगे खाद्यों पर अधिक व्यय होता है, स्वास्थ्य एवं कार्य-कुशलता में कदाचित उससे कहीं अधिक वृद्धि हो जाती है जितनी कि पहले समझा जाता था। किन्तु जैसे जैसे जीवन-स्तर में वृद्धि होती जाती है, इस कार्य-कुशलता में जो उस स्तर में और अधिक वृद्धि का परिणाम होती है, आनुपातिक रूप में कमी होती जाती है और हमारा सिद्धान्त घटती हुई शक्ति के साथ लागू होता है। अतः इस सिद्धान्त के आधार पर यह सिद्ध नहीं किया जा सकता कि नियोक्ताओं को वर्ग मजदूरी में असीमित वृद्धि करता चला जाए और यह सन्तोष करता रहे कि इसके फलस्वरूप इसका प्रतिदान कार्य-कुशलता में हुई वृद्धि से होता रहेगा। फिर भी कुछ लेखकों का यह विचार प्रतीत होता है क्योंकि वे सन् 1922 और 1929 के मध्य अमरीकी सम्पन्नता से इतने अधिक प्रभावित हुए कि उन्होंने इसका श्रेय मुख्य रूप से अथवा समग्र रूप से अमरीकी मजदूरी के उच्च स्तर को दिया तथा ऊंची मजदूरी को समस्त आर्थिक व्याधियों का रामबाण इलाज बतलाया।

2. मजदूरी का भुगतान एवं प्रेरणा—मजदूरी और कार्य के बीच सम्बन्ध का शारीरिक पहलू के अलावा एक पहलू है जो अभिप्रेरणा (Induce-

ment) कहलाता है। अब तक हम जिस बात पर विचार करते आये है उसका सम्बन्ध श्रमिक की कार्य करने की योग्यता से रहा है। किन्तु मजदूरी का परिवर्तन अधिक अथवा कम तीव्रता से, अथवा अधिक या कम समय तक काम करने की इच्छा को भी प्रभावित कर सकता है। किन्तु यहा ऐसी कोई बात दृष्टिगोचर नही होती जिससे यह निष्कर्ष निकाला जा सके कि मजदूरी के स्तर और किये गये कार्य मे कोई धनात्मक सह सम्बन्ध होता है, बल्कि कुछ प्रमाण ऐसे हैं जो यह सिद्ध करते हैं कि यह सम्बन्ध ऋणात्मक (Negative) होता है।[1] कोयला खान जैसे असामान्य रूप से श्रमसाध्य व अप्रिय व्यवसायो मे यह विशेष रूप से दिखाई देता है तथा महिलाओ एव वृद्ध श्रमिको की दशा मे भी यह पाया जाता है, क्योकि उनमे रोजगार खोजने की प्रवृत्ति केवल उसी दशा मे प्रबल होती है जबकि परिस्थितिया उन्हे इसके लिये बाध्य करें। इसका कारण यह है कि जैसे-जैसे मजदूरी का स्तर बढता है, हो सकता है कि श्रमिक इस लाभ का उपयोग मौद्रिक आय बढाने के बजाय अधिक अवकाश के रूप मे करना पसन्द करें।[2] इसके विपरीत दूसरी ओर निम्न जीवन स्तर वाले श्रमिको को निर्धनता अधिक घटो तक कठिन श्रम करने के लिये बाध्य करती है, क्योकि उनके लिये जीवन की नितात आवश्यकताओ की पूर्ति का केवल यही एक मात्र साधन है (जैसा कि हम आगे स्पष्ट करेंगे यह एक ऐसा कारण है जो निम्न जीवन स्तर वाले श्रमिको के शोषण को सचयी बना देता है)। पिछली शताब्दियो मे अन्य विचारो के बजाय इस विषय मे यही मत रहा है। सत्रहवी शताब्दी के एक लेखक ने उच्च मजदूरी के विचार को यह कह कर टाल दिया "मजदूरी के रूप मे वे जितना अधिक प्राप्त कर सकते हैं, उतना ही कम दिन वे काम करने का प्रयत्न करते है।" अठारहवी शताब्दी के एक लेखक आर्थर यग ने इस विचार मे दृढतापूर्वक यह और जोड दिया कि "एक मूर्ख के सिवाय प्रत्येक व्यक्ति यह जानता है कि निम्न वर्गों को निर्धन बने रहने देना चाहिये अन्यथा वे कभी मेहनत से काम नही करेगे। जहा तक प्रेरणा का प्रश्न है, मजदूरी की दर मे भी अधिक महत्वपूर्ण मजदूरी के भुगतान की रीति है। यदि समानी (Time-rate) के बजाय उजरत (Piece-rate) के आधार पर मजदूरी दी जाय—अर्थात् "सम्पादित परिणाम" या 'निर्मित माल" के अनु-

---

1. प्रोफेसर पाल डगलस ने अमरीकी अनुभव मे एक सांख्यिकीय प्रमाण प्रस्तुत किया है जो यह बतलाता है कि श्रम की पूर्ति की अल्पकालीन लोच ऋणात्मक होती है और यह लगभग 0.3 होती है (थ्योरी आव वेजेज, 274-89, 302-13)

2. अधिक अवकाश के बजाय अधिक आय का परित्याग करने की यह प्रवृत्ति वस्तुत: इतनी प्रबल नहीं होती जितनी कि प्राय: समझी जाती है, क्योंकि आय की माग और अवकाश की माग व्यापक रूप में "एक सयुक्त माग" (Joint Demand) होती है—अधिक अवकाश का उपयोग करने के लिये भी प्राय अधिक आय की आवश्यकता होती है।

ह्रास से है।[1] जिस प्रकार मे कोई नियोक्ता अपनी निकासियो (Outgoings) की अपेक्षा अपनी प्राप्तियो मे अधिक रूचि रखता है, उसी प्रकार एक श्रमिक, जो कुछ वह देता है उसकी तुलना मे जो कुछ वह प्राप्त करता है उसमे अधिक रूचि रखता है। कोई व्यक्ति जो अधिक घटे काय करता है अथवा उजरत पर कार्य करता है, और इसके फलस्वरूप अपने कार्य की तीव्रता को बढा देता है, सप्ताह मे अधिक धन प्राप्त कर सकता है किन्तु इसके साथ-साथ उसे अधिक थकान आती है तथा सम्भवत उसे खाद्य और मनोरजन पर तथा शायद डाक्टर के बिलो पर अधिक धन व्यय करना पड सकता है। उदाहरण के लिये, ऐसे श्रमिको को जो पाश्चात्य फैक्टरी प्रणाली की तीव्रता से कार्य करते है, प्राय अधिक मासाहार की आवश्यकता होती है, जबकि अपेक्षाकृत अधिक आराम से काम करने वाले पूर्वीय श्रमिक अन्नाहार पर निर्वाह कर सकते है, तथा जैसा आहार उनके भाग्य मे बदा है, उसको देखते हुये सम्भवत वे काय की गहन रीतियो को सहन नही कर सकते। इसके अतिरिक्त ऐसे प्रमाण मिलते है कि उजरत पर काम करने वाले श्रमिक (जैसाकि आदम स्मिथ का विचार था) तात्कालिक आय के आकर्षण के कारण अपने कार्य की तीव्रता को उस बिन्दु तक बढाने के लिए प्राय प्रेरित हो जाते है जोकि दीर्घकाल मे उनके स्वास्थ्य के लिये हानिकारक होती है और इससे उनके जीवन का कार्यकाल गम्भीर रूप से कम हो सकता है। अत कार्य मे "वृद्धि" के उद्देश्य को लेकर अपनायी जाने वाली रीतियो को लेकर घटित होने वाले अनेक विवाद केवल भ्रान्तियो पर ही आधारित नही होते।

अत सामान्यत यह कहा जा सकता है कि कार्य के घटो के विस्तार और कार्य की तीव्रता की वृद्धि मे, कर्मचारियो की अपेक्षा नियोक्ता का अधिक हित होता है। किन्तु नियोक्ता के लिये प्रत्येक व्यक्ति से यथासम्भव अधिकतम उत्पादन प्राप्त करना एक अन्य विशेष कारण से भी लाभदायक होगा। यह लाभ ऐसी अतिरिक्त मितव्ययिताओ के रूप मे होगा जिन्हे वह अपनी मशीनो के अधिक गहन प्रयोग द्वारा प्राप्त कर सकता है—अर्थात् प्रत्येक मशीन से अधिक कार्य लेकर वह एक निर्धारित अवधि मे अपनी फैक्टरी से अपेक्षाकृत उत्पत्ति प्राप्त कर सकता है और इस प्रकार उस मशीन की 'ऊपरी लागत" (Overhead cost) मे बचत कर सकता है। वर्कशाप मे अधिक सख्या मे श्रमिको को नियुक्त करके यदि अधिक उत्पादन प्राप्त किया जाय, तो भी कुछ हद तक यही बात लागू होगी। किन्तु वह सीमा, जिस पर इस रीति से विद्यमान सयन्त्रो के प्रयोग मे विस्तार करके, अर्थात् प्रत्येक मशीन पर अधिक व्यक्ति काम पर लगाकर—प्राप्त होने वाला लाभ समाप्त

1. अर्थात् आय और उसके द्वारा व्यय किये जाने वाले श्रम (जहा तक इसे मापा जा सकता है) के अन्तर को यथासम्भव अधिक से अधिक बढाना उसके लिये हितकर होगा।

हो जाता है, ऐसी दशा मे अधिक शीघ्रता से आ जाती है अपेक्षाकृत उस दशा के जिसमे नियुक्त श्रमिको की सख्या तो उतनी ही होती है किन्तु प्रत्येक व्यक्ति अधिक शीघ्रता से कार्य करता है, अथवा दिवस की समाप्ति पर जब मशीनें बेकार पडी हो, समयोपरि (Overtime) कार्य करता है। जहा बहु-पारी पद्धति (Multiple shift system) लागू करना व्यावहारिक हो, कार्य की एक पारी के स्थान पर दिन मे दो या तीन पारिया, ऐसी दशा मे उतनी ही मितव्ययिता तो होगी ही, साथ ही अतिरिक्त श्रमिको को रोज़गार भी मिल जायगा। किन्तु जहा यह व्यवहारिक न हो अथवा जहा इसकी सम्भावनाओ का पहले ही उपयोग कर लिया गया हो, तो नियोक्ता के लिये नियुक्त श्रमिको की सख्या को बढाने के बजाय, अपने विद्यमान श्रमिको के कार्य की तीव्रता को बढाना अधिक लाभप्रद होगा। यह मितव्ययिता इस तथ्य मे निहित है कि, जबकि सम्पन्न किये गये अतिरिक्त काम की वित्तीय व्यवस्था के लिये अधिक परिचलन पूजी (कच्चे माल तथा मजदूरी के लिये) की आवश्यकता होगी, तब स्थिर पूजी की लागत (मशीनो के ह्रास मे होने वाली थोडी सी, लेकिन असमान वृद्धि को छोडकर) समान रहेगी। अत: यद्यपि परिचलन या परिवाही पूजी मे की जाने वाली वृद्धि[1] की तुलना मे नियोक्ता के लाभ मे आनुपातिक रूप मे कम वृद्धि होगी, फिर भी यह वृद्धि प्रयुक्त समस्त पूँजी (परिचलन एव स्थिर) के अनुपात के रूप मे अधिक होगी और उसकी कुल पूजी के प्रतिशत के रूप मे उसका लाभ इसके फलस्वरूप बढेगा। यही वह तथ्य है जो अ शत इस बात को स्पष्ट करता है कि कार्य की गति म तीव्रता लाने के लिए नियोक्ताओ द्वारा (उचित परिसीमाओं मे) उजरत की दरो को बढाना क्यो लाभदायक होता है (जैसी कि "विभेदक उजरत-दर" जैसी किसी प्रणाली म स्पष्ट रूप से व्यवस्था होती है)। उत्पादन की प्रत्येक इकाई के लिए दी जाने वाली अधिक मजदूरी मे होने वाली हानि की तुलना मे मशीनो एव सयन्त्रो म होने वाली मितव्ययिता मे नियोक्ताओ को अधिक लाभ हो सकता है। विशेष रूप से अमेरिका मे बोनस प्रणाली के विभिन्न प्रकारो का एक और लाभ स्वीकार किया गया है और वह यह है कि इनसे 'अधिक श्रमिक आवर्त" या "श्रमिकफेर" (Labour turnover) की प्रासगिक लागत कम हो जाती है— अर्थात् जब श्रमिक असन्तोष

1. जहा तक कार्य की गति में वृद्धि का परिणाम उत्पादन की अवधि को घटाना होता है (जैसी कि इसकी प्रवृत्ति होती है) वहा तक परिचलन पूंजी में भी मितव्ययिता लाइ जा सकती है। दूसरे शब्दों में, कार्य के बढे हुए उत्पादन का सम्बन्ध पूजी में बचत करने वाले परिणामों से है। इस पुस्तक के प्रथम संस्करण में दिये गये, किन्तु बाद के सस्करणों में से निकाल दिये गये इस विवरण को यह एक महत्वपूर्ण विशिष्टता है कि "गतिवर्द्धक" रीतियों की प्रवृत्ति उजरत की दरों को कम करने की ओर होगी, क्योंकि कार्य की गहनता श्रम की बढी हुई पूर्ति के बराबर होती है और इसलिये यह सम्भवत: उसके मूल्यों को कम कर देगी।

के कारण अथवा अपनी स्थिति सुधारने की आशा मे अपने पदो का परित्याग कर देते हैं तथा अन्य नियोक्ता के यहा काम खोजते हैं' यह एक ऐसा विषय है जिस पर अगले अध्याय मे कुछ प्रकाश डाला जायगा।

4 दर काटना —परिणाम के आधार पर भुगतान का श्रमिक सघो द्वारा विरोध किये जाने का प्रमुख आधार दर काटने की घटनायें रही है अर्थात् श्रमिको के लिए उजरत दर प्रणाली लागू करने के बाद तथा श्रमिको द्वारा अधिक आय प्राप्त करने के आकर्षण से कार्य की गति मे वृद्धि कर दिये जाने के पश्चात् उजरत कार्य के लिए चुकाई जाने वाली दरो में कमी कर दी जाती है। यदि यह भी मान लिया जाय कि ऐसी घटनायें प्राय न होकर यदा-कदा ही होती हैं, तो भी ये इस प्रणाली के प्रति व्यापक सन्देह एव इसके लागू होने के प्रति विरोध उत्पन्न करने के लिये पर्याप्त होती है। श्रमिक स्वाभाविक रूप से ऐसे मामलो को इस बात का प्रमाण मानता है कि ऐसी प्रणाली का प्रमुख उद्देश्य श्रमिक को अपने कार्य की गति बढाने मे प्रोत्साहित करना है तथा एक बार ऐसा हो जाने पर उसे चुकाई जाने वाली दर मे कमी करके धोखे से उसे उसकी बढी हुई आय से वंचित करना है। दूसरी ओर *अपने कार्य के बचाव मे नियोक्ता का तर्क यह है* कि अग्रिम रूप से एक ऐसी दर का निश्चित करना जो कि ऐसे कार्य के लिए उत्पादन के उच्च स्तर प्राप्त कर लिए जाने पर "आर्थिक" सिद्ध होगी, असाधारण रूप से कठिन होता है। प्रथम यदि अत्यन्त न्यून दरें निश्चित की जाती है, तो असन्तोष उत्पन्न हो जाने की सम्भावना हो जाती है क्योंकि ऐसी दशा मे उजरत पर काम करने वाले श्रमिको तथा समानी पर काम करने वाले श्रमिको की आय मे इतना अन्तर नही रह जाता जो कि पहले प्रकार के श्रमिको को उनकी अधिक मेहनत का पर्याप्त पारिश्रमिक दे सके, और यदि वे एक ऐसे स्तर पर निश्चित की जाती हैं जिससे उत्पादन की मजदूरी लागत बढ जाती है तो नियोक्ता के समक्ष दो विकल्प होगे—अर्थात् या तो वह तदन्तर दरो मे कमी कर दे, अथवा कुछ श्रमिको को अलग कर दे। दरो को निश्चित करने में "समय एव गति अध्ययन" (Time and Motion Study) को आधार मानने में यह कठिनाई विशेष रूप से प्रोत्साहक सिद्ध हुई है। किन्तु प्रारम्भिक दर को निश्चित करने मे आने वाली इन अपरिहार्य कठिनाइयो के अतिरिक्त एक अन्य कारण ऐसा भी है जो नियोक्ता को बाद मे अपनी दर को घटाने के लिए बाध्य कर देता है तथा एक व्यक्तिगत नियोक्ता द्वारा जिसका पूर्वानुमान नही लगाया जा सकता—और वह है उसके उत्पादन के बाजार-मूल्य मे परिवर्तन। वास्तव मे यह अधिक सम्भाव्य है कि उजरत दरो के चलन के कारण किसी उद्योग के उत्पादन में यदि सामान्य वृद्धि हुई है, तो विक्रय-मूल्य मे कमी हो जायगी। इसकी सम्भावना कितनी है यह इस बात पर निर्भर होगा कि उस उद्योग द्वारा उत्पादित माल की माग लोचदार

है अथवा बेलोच है (जहा माँग लोचदार है वहा इसकी सम्भावना कम तथा बेलोच माग की दशा मे अधिक होगी), तथा यह अन्य उद्योगो की उत्पादन नीति पर तथा साथ ही उस देश की तात्कालिक वित्तीय नीति पर निर्भर होगा और ये दोनो क्रय शक्ति मे तथा समस्त समुदाय की व्यापक माग म होने वाले परिवर्तनो को निर्धारित करेंगे । किन्तु इसम पर्याप्त रूप से वास्तविक खतरा (नियोक्ताओ के मन म पूर्व विचारित किसी द्वेष क अतिरिक्त) यह रहता है कि उद्योग मे कार्य की तीव्रता प्राप्त होते ही आर्थिक परिस्थितिया प्रारम्भिक दरो मे अनिवार्यत कमी करने के लिए बाध्य कर सकती है और इसम यह सन्देह उत्पन होने का आधार बन जाता है कि ऐसा हो ही जायगा और जब तक दरो के निर्धारण को नियन्त्रित करने मे श्रमिको का पर्याप्त हाथ नही होता श्रमिको क मन मे यह भय उत्पन हो जाता है कि यह प्रणाली उनके हितो के विरुद्ध मोड ली जायगी । और इस प्रकार के सन्देह द्वारा उत्पन्न विरोध का सामना करन क लिए अमेरिका मे अनेक दशाओ मे फर्मो द्वारा यह गारन्टी दी गयी है कि एक बार लागू करने क पश्चात् उजरत की दरो म एक निर्धारित अवधि तक कोई परिवर्तन नही किया जायगा ।

5 **प्रीमियम बोनस प्रणालिया (Premium Bonus Systems)** कार्य के अनुसार भुगतान की साधारण एव 'सीधी" प्रणाली, जिसम श्रमिक को उत्पादित प्रत्यक इकाई के लिय एक सीधी दर चुकाई जाती है चाह वह कितना ही उत्पादन करे, एक ऐसी स्थिति उत्पन्न कर देती है जबकि नियोक्ता शीघ्र ही यह अनुभव कर सकता है कि उसके लिए इतने अधिक व्यक्तियो को काम पर रखना उस समय तक लाभदायक नही होगा जब तक कि वह विद्यमान उजरत की दरो मे कमी नही कर देता । दरो का इस तरह से "काटना" इस प्रणाली के प्रति श्रमिको के मन म विद्राह उत्पन्न कर दता है, और ऐसा विद्राह नियोक्ता द्वारा तीव्रता से कार्य करन क लिय प्रदत्त प्रेरणा के उद्देश्य को ही निष्फल कर सकता है । ऐसे ही अनेक कारणो म नियोक्ता कार्यानुसार भुगतान की अधिक जटिल ऐसी प्रणालियो को ज्यादा पसन्द करते हैं जिनके अन्तर्गत आरम्भ मे तो अधिक कार्य के लिय ऊचा पारितोषिक होता है किन्तु बाद मे वह पूरे किय गय काम के साथ साथ उसी अनुपात मे नही बढता है । अत व्यक्तिगत उत्पादन म वृद्धि क कारण दरो म स्वयमेव ही कमी हो जाता है । ऐसी अधिक जटिल प्रणालियो का प्राय प्रीमियम बोनस प्रणालिया के नाम से सम्बोधित किया जाता है और य निर्धारित कार्य के लिए एक "प्रामाणिक समय" (Standard Time) पर आधारित होती है तथा 'समय मे बचत क लिए" बोनस देने की व्यवस्था होती है। सन् 1898 म ग्लासगो मे डेविड रावन महोदय द्वारा प्रचलित प्रणाली में कार्य की निश्चित मात्रा के लिय ' मानक या प्रामाणिक समय" निर्धारित कर दिया जाता है और यदि इससे कम समय मे कार्य सम्पन्न कर दिया जाता है तो श्रमिक बचाये गय समय के प्रतिशत के बराबर

बोनस का प्रतिशत प्राप्त करता है। यह विचारणीय है कि मजदूरी का हिसाब श्रमानी-दर के अनुसार लगाया जाता है, जबकि बोनस का हिसाब, कार्य पर लगाये गये वास्तविक घटो के अतिरिक्त चुकाये जाने वाले घटो के आधार पर लगाया जाता है। इस प्रकार यदि मानक समय 10 घटे का है और कार्य वास्तव मे पूरा कर लिया जाता है 8 घटे मे, तो साधारण प्रतिघटा दर से 8 घटे का भुगतान करने के अतिरिक्त 20 प्रतिशत बोनस और दिया जायगा, जो 1 6 घटो के लिये अतिरिक्त भुगतान के बराबर होता है। सन् 1890 मे अमेरिका मे श्री एफ ए हेल्से द्वारा शुरू की गई एक वैकल्पिक प्रणाली के अनुसार मानक समय मे से बचाये गये घटो के लिये प्रति घटा दर का एक तिहाई बोनस दिया जाता था। इस प्रकार यदि प्रामाणिक समय 10 घटे का था और काय 7 घटे मे ही पूरा किया गया तो श्रमिक को 7 घटे के भुगतान के अतिरिक्त एक घटे की मजदूरी के बराबर बोनस और मिलेगा। जब इगलैंड मे मेसर्स वेयर द्वारा इस प्रणाली को प्रचलित किया गया तो इसमें यह सशोधन किया गया कि बचाये गये समय के लिये प्रतिघटा दर का आधा बोनस के रूप मे दिया जाय और इस रूप मे यह हेल्से वेयर प्रणाली के नाम से प्रसिद्ध हुई। रोवन एव हेल्से प्रणालियो की तुलना मे यह प्रणाली गतिवर्द्धन के प्रारम्भिक चरण मे ऊंची वास्तविक दर एव अधिक प्रेरणा प्रदान करती है। प्रामाणिक समय मे 50 प्रतिशत की कमी तक दोनो प्रणालिया समान है, क्योकि उनमे से प्रत्येक "मानक" या "प्रामाणिक" उत्पादन मे दुगुनी वृद्धि के लिये आय मे 50 प्रतिशत वृद्धि प्रदान करती है। किन्तु इस बिन्दु के बाद हेल्से प्रणाली की अपेक्षा रोवन-प्रणाली मे वास्तविक दर तेजी से गिरती है।

कभी कभी सामूहिक बोनस दिये जाने का सुझाव दिया गया है और एक या दो दशाओ मे यह रीति अपनाई भी गयी है। यह ऐसी दशा म विशेषतः उपयुक्त होती है जहा व्यक्ति 'टोलियो' मे कार्य कर रहे हो और जब प्रत्येक श्रमिक के विशिष्ट योगदान का मूल्याकन करना कठिन हो जाता है जैसा कि बायलर-निर्माताओं की रिवेट लगाने वाली टोलियो की स्थिति मे होता है। इसका एक उदाहरण प्रीस्टमैन प्रणाली थी जिस सन् 1917 मे हल (Hull) के मेसर्स प्रीस्टमैन द्वारा प्रचलित किया गया। इसके अन्तर्गत श्रमिको को मूल रूप मे साधारण श्रमानी दर से भुगतान किया जाता है। इसके अतिरिक्त समस्त समूह या टोली द्वारा निर्धारित मात्रा मे अधिक किये गये उत्पादन के अनुपात मे समूह बोनस और दिया जाता है। यह बोनस इस प्रकार विभाजित कर दिया जाता है जिससे कि प्रत्येक श्रमिक की मजदूरी मे उसी अनुपात मे वृद्धि हो जाय।

6 *"कार्य-बोनस प्रणालियां"* (**Task Bonus Systems** वैज्ञानिक प्रबन्ध की व्यापक योजनाओ के सिलसिले मे अमेरिका मे प्रयोग मे लायी गई

'कार्य बोनस प्रणालियों" के अन्तर्गत एक भिन्न सिद्धान्त निहित होता है। इनके अन्तर्गत पूर्व निर्धारित कार्य या कुशलता का स्तर पूरा करने के लिए अत्यधिक बोनस दिए जाने की व्यवस्था होती है और यह बोनस साधारण उजरत-मजदूरी में जोड़ दिया जाता है। गैन्ट प्रणाली (The Gantt System) के अन्तर्गत निर्धारित कार्य अत्यन्त कठिन होता है—जैसे कि सामान्य उत्पादन में दुगुनी वृद्धि करना—और दिया जाने वाला बोनस मजदूरी का लगभग 40 या 50 प्रतिशत होता है। ऐसे श्रमिक जो कि निर्धारित स्तर तक नहीं पहुँच पाते, अतिरिक्त आय प्राप्त नहीं कर सकते। यह बहुत कुछ इसी प्रकार होता है जैसे कि गधे की ठीक नाक के आगे गाजर लटका दी जाय-गाजर यद्यपि गधे की पहुँच से सदैव परे ही रहेगी, किन्तु उसकी प्रगति काफी बढ़ जायगी। इमर्सन प्रणाली (Emerson System) जो कि इसी प्रकार की एक अन्य प्रणाली है के अन्तर्गत भी एक "कार्य" निर्धारित कर दिया जाता है और प्रायः यह "कार्य" उतना ही कठिन नहीं होता क्योंकि इसका निर्धारण एक औसत श्रमिक के लिए किया जाता है, किन्तु बोनस अनुपातन कम होता है तथा इसे निर्धारित करते समय यह ध्यान रखा जाता है कि कार्य का स्तर श्रमिक की पहुँच के यथासम्भव समीप हो। इस दशा में 'गाजर" कुछ छोटी तथा कम रसदार तो होती है, किन्तु यह गधे का अधिक बार प्राप्त हो सकती है।

किन्तु असमान या विभेदात्मक उजरत-कार्य की टेलर प्रणाली इससे एक कदम आगे है और प्रीमियम बोनस प्रणालियों के विपरीत इसमें वस्तुतः श्रमिक के कार्य की गति में वृद्धि के साथ-साथ कार्य के लिए चुकाई जाने वाली उजरत दर बढ़ती जाती है। उदाहरण के लिये, यदि एक घंटे में 6 दर्जन वस्तुयें उत्पादित की जाती हैं तो उजरत की दर एक शिलिंग प्रति ग्रूस हो सकती है, किन्तु यदि एक घंटे में 7 दर्जन उत्पादन होता है तो दर को बढ़ा कर 1 शि 1 पैं. प्रति ग्रूस कर दिया जायगा। इसके प्रवर्तक के अनुसार इस योजना के अनुसार इस योजना का लाभ इस तथ्य में निहित है कि यह किसी भी अन्य वैकल्पिक प्रणाली की तुलना में धीमे श्रमिक की स्थिति को पहले से अधिक निकृष्ट और तेज श्रमिक की स्थिति को श्रेष्ठतर बना देती है और इसके फलस्वरूप समस्त धीमे श्रमिक कारखाने से निष्कासित हो जाते हैं तथा व्यवसाय के समस्त उत्तम श्रमिक इस कारखाने के प्रति आकर्षित हो जाते हैं। इस प्रकार एक विशिष्ट नियोक्ता स्वयं के लिये श्रम-बाजार का सर्वोत्तम निचोड़ प्राप्त कर सकने में सफल हो सकता है और वह अपने कारखाने में अपेक्षाकृत कम संख्या में तेजी से कार्य करने वाले श्रमिकों को नियुक्त करके लाभान्वित हो सकता है, भले ही उसे उन्हें सामान्य दर से अधिक दर चुकानी पड़े। यह एक ऐसा लाभ है जो किसी एक नियोक्ता या एक उद्योग को ही प्राप्त हो सकता है, किन्तु जिसे समस्त नियोक्ता एक साथ प्राप्त नहीं कर सकते। सर्वोत्तम श्रमिकों का लाभ सभी को कैसे प्राप्त हो सकता है। यदि इस प्रणाली को

सामान्यरूप से अपना लिया जाय तो इसमे, कार्यानुसार भुगतान की अन्य प्रणालियो की अपेक्षा, मजदूरी की दरो को घटाने की अधिक सम्भावना रहेगी।

7 बीडाक्स प्रणाली तथा बिन्दु-दर (Bedaux system & point rating) उजरत दर और बोनस प्रणालियो म सम्बद्ध प्रमुख कठिनाइयो म से एक इसी कारखाने मे विभिन्न कार्यों के बीच दरो का समायोजन करना है। जब अनेक प्रकार की मशीनो पर श्रमिक कार्य कर रहे हो अथवा विभिन्न प्रकार की वस्तुओ का वे उत्पादन कर रहे हो, तो उत्पादन मे वृद्धि के लिये सुविधा या सरलता पर्याप्त रूप से न्यूनाधिक हो सकती है—अर्थात् एक दशा मे श्रमिक क लिय कम और दूसरी मे श्रमिक के लिये बहुत अधिक शारीरिक तनाव की अपेक्षा हो सकती है। उजरत दरो के निर्धारण मे यह सदैव एक महत्वपूर्ण समस्या रही है—उदाहरण के लिय कोयला, खनन मे कोयला काटने की सरलता अथवा कठिनाई खान मे कोयला काटने वाले की परिस्थिति पर निर्भर होगी (अर्थात् वह कोयले की मुलायम परत काट रहा है या कठोर परत पर काम कर रहा है) अथवा आधुनिक समय मे इस बात पर निर्भर होगी कि कोयला मशीनो के द्वारा काटा जा रहा है या हाथ म। सूती-वस्त्र उद्योग मे काते जाने वाल सूत की मात्रा, कार्य मे प्रयुक्त "चरखे" (Mule) के प्रकार के अनुसार तथा सूत की किस्म और बारीकी के अनुसार काफी कम या अधिक होगी क्योकि धाग के 'मरोड" (Twists) की मात्रा तथा कताई की प्रक्रिया मे चरखे के कैरिज (Mule Carriage) की चाल या गति भी इसी के द्वारा निर्धारित होगी। यह एक ऐसा तत्व है जो सूती वस्त्र-उद्योग मे प्रतिपादित उजरत दरो की अत्यन्त विस्तृत एव जटिल प्रणालियो के लिय उत्तरदायी रहा है।

द्वितीय विश्व युद्ध स पहले बीडाक्स प्रणाली के नाम से ज्ञात एक बोनस प्रणाली के बारे मे पर्याप्त चर्चा थी और यह माना जाता था कि अन्य प्रणालयो की अपेक्षा इसमे यह लाभ प्राप्त था कि इसम विभिन्न कार्यों के बीच बोनस दर एव *मानक या प्रामाणिक उत्पादन दोनो के मूल्यांकन की ऐसी व्यवस्था थी कि जिससे* विभिन्न कार्यों मे लगे श्रमिको की आय की विभिन्न दरो के विषय मे उत्पन्न होन वाले *असन्तोष को रोका जा सकता था। यह प्रणाली सर्वप्रथम सन् 1911 मे न्यूयार्क* मे श्री चार्ल्स बीडाक्स के द्वारा प्रतिपादित की गयी तथा अमेरिकन नियोक्ताओ मे यह कुछ लोकप्रिय भी रही। सन् 1926 मे न्यूयार्क की चार्ल्स ई बीडाक्स लिमिटड नाम से एक कम्पनी खोली गई जिसका उद्देश्य इस दश मे फर्मों द्वारा इस प्रणाली के प्रचलन के लिये तकनीकी कार्यकर्ता तथा परामर्श प्रदान करना था। यह प्रणाली अगले दस वर्षों मे एटलान्टिक के इस पार पर्याप्त संख्या मे फर्मों द्वारा अपनाई गई, किन्तु इस देश मे जहा कही भी यह अपनाई गयी, यह अधिक लोकप्रिय नही हो सकी। इसके प्रचलन के अवसरो पर श्रमिको की ओर से हडतालें की गयी और

सन् 1932 में ट्रेड यूनियन कांग्रेस ने इसके संचालन के बारे में जांच करवाई जिससे ज्ञात हुआ कि उन सब भिन्न भिन्न व्यवसायों में इसका अनुभव था, लगभग प्रत्येक दशा में इसके विरोधी थे। इस प्रश्न पर एक प्रसिद्ध अधिकारी विद्वान द्वारा यह साबित किया गया कि अनेक अन्य प्रचलित बोनस-प्रणालियों की अपेक्षा इसमें प्रति घंटा कम आय की व्यवस्था थी।[1] इसका सामान्य प्रभाव स्पष्टतया उत्पादन की इतनी वृद्धि को प्रोत्साहित करना था जो इसके द्वारा प्रदान की जाने वाली वेतन-वृद्धि से कहीं अधिक थी। अमेरिका में किये गए अन्वेषणों से ज्ञात हुआ कि इसके फलस्वरूप उत्पादन में औसतन 50 प्रतिशत की वृद्धि हुई जबकि श्रमिकों की आय में वृद्धि केवल 20 प्रतिशत ही थी।[2]

इसके बाद से इस प्रणाली में अनेक संशोधन किये गये हैं जिन्हें सामान्यतः बिन्दु दर प्रणालियों की संज्ञा दी गई है। इनमें समान तत्त्व यह है कि विशेषज्ञों द्वारा, जिन्हें आम तौर से "दर-निर्धारक" कहा जाता है कार्य के विषय में "समय-अध्ययन" पूरा किये जाने के बाद, प्रत्येक कार्य या कार्य की इकाई-अंश के लिए अंकों (Points) या समय-इकाइयों की एक निश्चित संख्या निर्धारित कर दी जाती है। इन अंकों या समय-इकाइयों द्वारा किसी कार्य के लिए निर्धारित प्रामाणिक समय का आधार निर्मित होता है। बीडाक्स प्रणाली में "प्रामाणिक मिनट" को एक इकाई मान कर यह समझा गया कि इसमें कार्य के वास्तविक समय और परिश्रम के पश्चात् विश्रामान्तर (Rest pause) दोनों को ध्यान में रखकर व्यवस्था की गयी थी तथा उचित अनुपात में इन दोनों के संयोग को वैकल्पिक रूप में "बी" इकाई के नाम से सम्बोधित किया गया। तत्पश्चात् प्रामाणिक मिनटों अथवा "बी" इकाइयों के आधार पर कार्य की दर निर्धारित की गयी और निश्चित अवधि में निर्धारित स्तर से अधिक पूरे किये गये कार्य (इन समय-इकाइयों में मापे गये) के अनुपात से श्रमिकों को बोनस दिया जाता था। उदाहरण के लिए किसी कार्य का स्तर 20 "प्रामाणिक मिनट" निर्धारित किया जा सकता है तथा दूसरे शब्दों में यह भी कहा जा सकता है कि ऐसे तीन कार्य एक घंटे के प्रामाणिक कार्य के समान होंगे। प्रति घंटे कार्य करने के लिये श्रमिक को साधारण समानी दर चुकाई जाती है और यदि वह एक घंटे में 60 प्रामाणिक मिनट के मूल्य से अधिक कार्य निकालता है तो उसे उतने के बराबर बोनस भी प्राप्त होता है। यह बोनस अतिरिक्त प्रामाणिक मिनटों के लिए समानी दर का एक अनुपात होता है (जो सौ प्रतिशत अथवा कम भी हो सकता है)। इस प्रकार यदि 8 घंटे के कार्य-दिवस में कोई श्रमिक इतना काम पूरा कर देता है कि जो 500 "प्रामाणिक मिनटों"

---

1. [illegible] रिपोर्ट, [illegible], मई 1932.
2. 'सिस्टम्स ऑफ वेज पेमेन्ट,' [illegible] पृष्ठ 105-9.

के समान आंका जाता है, तो वह 8 घंटे (अथवा 480 मिनट) काम करने के लिए साधारण अमानी-दर प्राप्त करेगा, एवं साथ ही वह अतिरिक्त 20 मिनट के लिये अमानी-दर के बराबर (या उसके किसी भाग के बराबर) बोनस भी प्राप्त करेगा।

ध्यान देने योग्य है कि यह सैद्धान्तिक रूप से प्रीमियम बोनस-प्रणाली से इस बात में समान है। यह भी किसी निर्धारित कार्य के लिये प्रामाणिक समय के निर्धारण पर आधारित है, किन्तु इसमें उस अवधि में किये गये अतिरिक्त कार्य के लिये दिये जाने वाले बोनस के गणना की वास्तविक रीति किंचित भिन्न है (क्योंकि यह "बचाये गये समय" और "प्रामाणिक समय" के बीच सम्बन्ध को बोनस का आधार मानने के बजाय, अतिरिक्त कार्य के समय-इकाइयों में मापे जाने पर आधारित है)। यह प्रणाली अनेक साधारण बोनस-प्रणालियों की अपेक्षा बहुत ज्यादा जटिल है और श्रमिक के लिये प्राय यह समझना सरल नहीं होता कि उसके वेतन की गणना कैसे की गयी है। इसके अतिरिक्त, चूंकि कार्यों को प्रामाणिक इकाइयों में बदलकर दर-निर्धारण का काम विशेषज्ञों द्वारा किया जाता है (जो प्राय उस कारखाने या फर्म के लिये बाहरी व्यक्ति होते हैं) अत सामूहिक सौदाकारी अन्य सरल बोनस प्रणालियों की अपेक्षा बोनस के निर्धारण के लिये कम अनुकूल होती है। ऐसी प्रणालियों के प्रति विरोध न होते हुये भी श्रमिकों में प्राय जो व्यापक अविश्वास पाया जाता है उसे ये दोनों कारण स्पष्ट कर देते हैं।

8 **परिणामानुसार भुगतान का क्षेत्र**—शुरू में इस विचार पर आश्चर्य हो सकता है कि परिणामानुसार भुगतान की प्रणाली सर्वत्र क्यों नहीं अपनाई जाती, जबकि यह नियोक्ताओं के लिए स्पष्टत अतनी अधिक लाभकर होती है। किन्तु यह याद रखना चाहिये कि परिणामानुसार भुगतान की प्रणाली ही एक मात्र ऐसी रीति नहीं है जिसके द्वारा नियोक्ता अपने कारखाने में कार्य की गति को बढा सकता है। उदाहरण के लिये, वह फोरमैनों एवं पर्यवेक्षकों (Supervisors) का पर्याप्त स्टाफ नियुक्त करके वहां परिणाम प्राप्त कर सकता है और जहां कार्य का पर्यवेक्षण करना सरल है तथा श्रमिक फोरमैनों के अनुनय एवं दबाव के प्रति विनयशील है, इस प्रकार की रीतियों द्वारा अधिक उत्पादन प्राप्त करना उसके लिये सस्ता हो सकता है। कुछ दशाओं में वस्तुत समस्त वर्कशाप के परिणामों के अनुपात में फोरमैनों को बोनस दिये जाने की प्रणाली पायी जाती है। ऐसे अनेक प्रकार के कार्य हैं जिनमें परिणामानुसार भुगतान लागू करना महंगा और अव्यावहारिक है, तथा ऐसी भी दशायें हैं जिनमें उत्पादन पर इसका प्रभाव नगण्य होता है। परन्तु यह भी सही नहीं है कि समस्त दशाओं में नियोक्ता का हित इसे लागू करने के पक्ष में हो सकता है और श्रमिकों का हित इसका विरोध तथा अवरोध करता है। हो सकता है कि यह पूर्ववर्णित कारणों से श्रमिकों के हित की अपेक्षा नियोक्ता के हित में अधिक हो। यह भी सही है कि उद्योग के एक व्यापक क्षेत्र में विशेष रूप

उसके अतिरिक्त परिश्रम की कुछ क्षतिपूर्ति हो सके। कुछ प्रकार के कार्यों मे संख्या के बजाय गुण (Quality) अधिक महत्वपूर्ण हो सकता है। ऐसी दशा में यदि अधिक संख्या मे माल उत्पादित करने म उसका मौद्रिक हित है तो वह गुण की अवहेलना करके भी संख्या को बढाने के उद्देश्य से काम की गति मे वृद्धि करने का प्रयत्न करेगा और इस प्रकार निकृष्ट एवं "घटिया" माल निकालेगा। यह सही है कि नियोक्ता निश्चय ही खराब माल को अलग निकाल कर उसकी गिनती करने से इन्कार कर सकता है किन्तु यह विरोध एव विवाद को जन्म देगा तथा आम तौर से केवल कुछ निकृष्टतम दशाओं मे ही इसे लागू किया जा सकता है और इसम पूरे किये जाने वाले काय के औसत गुण म कोई विशेष वृद्धि नही होगी। कोई भी यह सुझाव नहीं देगा कि एक माली का उसके द्वारा लगाये गये पौधों के, अथवा एक खानसामे को उसके द्वारा भूने गये गोश्त की मात्रा के अथवा एक हाली (Ploughman) को उसके द्वारा जोती गयी हल–रेखाओं या कूडा के आधार पर भुगतान किया जाय। यह कथन कि न्यून उत्पादन एव ऊची लागतों के प्रत्येक मामले का उपचार परिणामानुसार भुगतान के विस्तार द्वारा किया जा सकता है, सत्यता से बहुत परे है। जैसा कि विषय स सम्बद्ध एक लेखक ने कहा है "आज यह अधिक पूर्णता से अनुभव किया जाने लगा है (कि, अनेक कारणो द्वारा उत्पादन को प्रभावित किया जा सकता है और इनम श्रमिकों का प्रयत्न केवल एक कारण है तथा वह भी सम्भवत सबसे महत्वपूर्ण नहीं है।"[1] न्यून उत्पादन अनेक कारणों से हो सकता है जैसे प्रबन्ध के दोष, कच्चे माल, औजार, अथवा यत्रों की अपर्याप्त अथवा अविराम पूर्ति, उत्पादन प्रक्रिया के विभिन्न अगों का दोषपूर्ण समन्वय और उसम होने वाला विलम्ब एव भीड भाड मशीनों की अनुपयुक्तता और मरम्मत का अभाव, तथा ड्राइग रूम और कार्यालय के कामों में अकुशलता। परिणामानुसार भुगतान नियोक्ता को इस योग्य नहीं बनाता कि वह इनम म किसी का उपचार कर सके।

जहा कार्य का स्वरूप मानवीकृत होता है तथा ऐसे नियमित "टुकडो" मे विभाजित होता है कि जिन्हे सरलता से मापा जा सकता है और जो प्रति सप्ताह समान रहते हैं वहा परिणामानुसार भुगतान को लागू करना अत्यन्त व्यावहारिक एव सरल होता है। किन्तु जहा काय सरलता से माप जा सकने वाले "भागों" मे विभक्त नहीं है अथवा जहा उनका स्वरूप निरन्तर परिवर्तनशील है, वहा ऐसी प्रणाली लागू करना अत्यन्त जटिल होगा, जैसे कि एक ढलाई के कारखाने में जहा विभिन्न प्रकार के अनेक ढाचा का निर्माण होता है और वे भी प्रतिदिन या प्रति सप्ताह परिवर्तित होते रहते है। ऐसी दशाओं म ही प्रणाली क प्रति–श्रमसघो द्वारा विरोध करने की सम्भावना सबसे अधिक हो जाती है। किसी श्रम–सघ का उद्देश्य,

---

1. पार्वेल, पमेन्ट बाइ रिजल्ट्स, पृष्ठ 57.

(जैसाकि हम अगले अध्याय में देखेंगे) अपने सदस्यों की आय में, सामूहिक रूप से अथवा दर बनाकर मजदूरी की दरों के बारे में नियोक्ता से अनुबन्ध करके, सुधार करना है। यदि कार्य मानवीकृत एवं नियमित है, तो नियोक्ता एवं श्रम संघों के मध्य सीधी सौदाकारी के द्वारा अमानी एवं उजरत दोनों की दरों को निर्धारित किया जा सकता है। विभिन्न प्रकार के कार्यों की दरें दोनों पक्षों की सहमति से तय की जा सकती हैं और उनकी "मूल्य सूची" वर्कशाप में टांगी जा सकती है। ऐसी 'मूल्य-सूचियां" अनेक व्यवसायों में प्रयुक्त की जाती हैं जैसे सूती-वस्त्र तथा जूता एवं बूट उद्योग आदि। यहां यह निर्णय करने में भी कि कोई विशिष्ट कार्य विभिन्न वर्गों में किस प्रकार से सम्मिलित किया जाय, वस्तुतः व्याख्या सम्बन्धी कुछ कठिनाइयों और फलस्वरूप विवादों के उत्पन्न होने की सम्भावना हो सकती है। ऐसी दशाओं में किसी निष्पक्ष विवाचक की सेवाएं उपलब्ध करनी होंगी, अथवा जैसा कि सूती वस्त्र उद्योग में, जहां उजरत की सूचियां (Piece Lists) असामान्य रूप से जटिल होती हैं नियोक्ताओं द्वारा श्रम-संघों के ऐसे अधिकारियों पर निर्णय छोड़ दिया जाता है जिन्हें इस कार्य के लिये विशेष रूप से नियुक्त किया जाता है। किन्तु जहां कार्य का स्वरूप अत्यन्त भिन्नतापूर्ण होता है और निरन्तर नवीन प्रकार के कार्य उत्पन्न होते रहते हैं, मानवीकृत मूल्य-सूचियां सम्भव नहीं होतीं और पृथक रूप से प्रत्येक कार्य के लिये प्रबन्धकों और व्यक्तिगत श्रमिक के बीच सीधे सौदे के द्वारा उजरत दरों का निर्धारण करना होता है। यह तथ्य, कि इन्जीनियरिंग उद्योग में सामूहिक सौदाकारी एवं सहमति के द्वारा उजरत-सूचियों के निर्धारण के स्थान पर उजरत की दरें परम्परागत रूप से "पारस्परिकता" की रीति (Method of Mutuality) के द्वारा निश्चित की जा चुकी है, उस विरोध के लिये मुख्यतः उत्तरदायी है जो भूतकाल में अन्य औद्योगिक संघों की अपेक्षा इन्जीनियरिंग श्रम-संघों द्वारा परिणामानुसार भुगतान के विस्तार के विरुद्ध किया गया है। युद्धकाल में अनेक प्रकार के नये कार्यों के निरन्तर प्रचलन तथा अकुशल व्यक्तियों की कुशल कार्यों के लिए पदोन्नति (जिसे "अवकुशलन" या "डाइल्यूशन" कहा जाता है) के कारण यह कठिनाई विशेष रूप से बढ़ गयी। प्रत्येक दशा में सम्बद्ध व्यक्ति एवं प्रबन्धकों के बीच दर के विषय में एक नवीन अनुबन्ध करना आवश्यक हो गया और ऐसी दरों के निर्धारण में "सामूहिक सौदाकारी" का तत्व शामिल करने के लिए इन्जीनियरिंग एवं गृहसज्जा (Furnishing) व्यवसायों में प्रत्येक वर्कशाप के श्रमिकों द्वारा ऐसे शाप प्रतिनिधि-कर्मचारी का चुनाव करने की प्रथा चालू हो गई जो प्रबन्धकों के समक्ष उनके प्रवक्ता की भांति कार्य कर सकें तथा ऐसे अनेक शाप प्रतिनिधि कर्मचारी का चुनाव करने की प्रथा चालू हो गई जो प्रबन्धकों के समक्ष उनके प्रवक्ता की भांति कार्य कर सकें तथा ऐसे अनेक शाप प्रतिनिधि-कर्मचारी मिलकर कारखाना समिति (Works Committee) का निर्माण कर सकें। फिर भी दोनों युद्धों के मध्य इन्जीनियरिंग में स्वचालित मशीनों

के चलन के साथ-साथ मानवीकृत कार्यों का बड़ा विस्तार हुआ और उसके फलस्वरूप परिणामानुसार भुगतान का क्षेत्र पर्याप्त रूप मे व्यापक हो गया। यदि ऐसे मामले उत्पन्न होते है जिनके कारण श्रम-सघो के लिये सामूहिक सौदाकारी के द्वारा उजरत की दरो को निर्धारित करना सम्भव नही होता तो ऐसी दशाओ मे रक्षार्थ पूर्वोपायो के रूप मे यह शर्त लगाना सामान्य बात हो गयी है कि उजरत पर काम करने वाले श्रमिको को प्रचलित अमानी दरो की तुलना मे कम आय नही होगी। ऐसा इन्जीनियरिंग व्यवसायो मे किया जाता है। अनेक बार यह कहा जाता है कि उजरत पर काम करने वाले श्रमिको को सामान्य अमानी दरो से अधिक आय की गारन्टी की जानी चाहिये, अर्थात् "अमानी दरो से एक चौथाई", अथवा "एक तिहाई" अधिक आय होनी चाहिए क्योंकि उजरत पर काम करने वाले श्रमिक, अमानी पर काम करने वाले श्रमिको की अपेक्षा प्राय अधिक तीव्रता से कार्य करते हैं और जबकि वे व्यवहार मे अधिक कार्य करते हैं यदि उन्हे इनसे अधिक आय नही होती है तो यह उनके साथ अन्याय होगा।

9. **उप-अनुबन्धन (Sub-Contracting)**—ऐसी दशाओ मे जहां श्रमिक कमजोर एव असगठित होते हैं, परिणामानुसार भुगतान की प्रणाली शोषण की अनेक रीतियों के लिये मार्ग प्रशस्त कर सकती है क्योंकि यदि भुगतान की रीति अधिक जटिल है और इस प्रकार की है जिससे श्रमिक अपने कार्य की गति को बढाने के लिये प्रोत्साहित होता है, तो श्रमिक की अज्ञानता एव दुर्बलता का अनुचित लाभ उठाये जाने का अधिक अवसर होता है। भूतकाल मे सामान्यत प्रचलित एव "उप-अनुबन्ध" नाम से विख्यात प्रणाली के साथ ऐसे ही दोष जुड़े हुए थे। इस प्रणाली के अन्तर्गत जो कि कारखाना प्रणाली के चलन से पहले घरेलू प्रणाली का ही वस्तुत: एक अवशेष थी पूजीपति ऐसे लघु व्यवसायी अथवा टोली-नायक अथवा उप-अनुबन्धक को निर्धारित मूल्य पर काम देता था, जो फिर स्वय उस काम पर अन्य व्यक्तियो की नियुक्ति करता था। उप-अनुबन्धक अपने नियोक्ता से अनुबन्ध किये गये मूल्य से कम पर काम को सम्पन्न करवा कर अपना लाभ प्राप्त करता था और इसके फलस्वरूप उसके द्वारा प्रदत्त मजदूरी को न्यूनतम सीमा तक कम करने के लिये प्रेरित होता था। यदि नियोक्ता "उसके साथ घटाई करता था" तो वह उसके द्वारा नियुक्त श्रमिकों को चुकाई जाने वाली मजदूरी "मे कमी कर देता" था। प्राय. खानो का कार्य निर्धारित मूल्य पर एक अनुबन्धक को सौंप दिया जाता था। उसे 'बटी" (Butty) कहा जाता था। कार्नवाल की टीन की खानो को प्राय उल्टी नीलामी" (Dutch Auction) की प्रक्रिया के द्वारा कथित अमानी काम (Tut Work) किसी "टोली नायक" (Gangmaster) को सौप दिया जाता था। जिसके अन्तर्गत प्रारम्भ ऊंची बोली से होता था, किन्तु अन्त मे न्यूनतम बोली लगाने वाले को कार्य दे दिया जाता था। उन्नीसवी शताब्दी

के मध्य में रेल निर्माण का अधिकांश कार्य उप-अनुबन्ध के आधार पर ही किया गया। आज भी इसके कुछ चिन्ह विद्यमान हैं। मिडलैंड कोयले के क्षेत्रों में कोयला खनन के रूप में 'बटी' आज भी विद्यमान है। कोयले की किसी नई परत पर काम आरम्भ होने पर उसके लिये एक 'स्टाल" (Stall) नियत कर दिया जाता है और उसके द्वारा अपने 'स्टाल" से बाहर भेजे जाने वाले कोयले का प्रति टन मूल्य चुकाया जाता है। वह स्वयं अपनी ओर से सहायकों की नियुक्ति उजरत की बजाय दैनिक दरों के आधार पर करता है। और ये 'स्टाल" के कार्य उसकी मदद करते हैं। किन्तु अब 'बटी" और उसके सहायकों दोनों की दरें श्रम संघों के समझौतों के द्वारा निर्धारित की जाती है। यद्यपि व्यवहार में सर्वोत्तम 'स्टालों" के आवन्टन के लिये सम्बन्धित व्यक्तियों की मुट्ठी गरम करना" आवश्यक हो जाता है। यह प्रणाली अनेक लघु हस्त व्यवसायों में भी पाई जाती है जैसे कि वस्त्र उद्योग जहां उप अनुबन्ध के आधार पर काम दिया जाता है और इसमें प्राय जी तोड़ मेहनत एवं शोषण (Sweating) के अत्यन्त निरीह दृश्य दिखलाई देते हैं। अर्थशास्त्री मैक्कुलक ने एक बार उप-अनुबन्ध प्रणाली की बड़े जोशीले शब्दों में इस प्रकार सराहना की थी, 'यह सत्य है कि उन तरीकों में, जिनके द्वारा परिश्रमी, कुशाग्रबुद्धि और मितव्ययी व्यक्ति निर्धनता से मुक्त होकर प्रतिष्ठा एवं समृद्धि प्राप्त करते हैं, यह तरीका सबसे ज्यादा व्यापक, सुगम और निष्कन्टक है। जो इस प्रकार विशिष्ट स्थिति तक पहुँच जाते हैं उनके बारे में दृढ़तापूर्वक यह कहा जा सकता है कि वे अपने भाग्य के स्वयं निर्माता होते हैं। उनकी प्रगति में किसी प्रकार के पक्षपात, किसी की रुचि व अवांछनीय साधनों का हाथ नहीं होता है।" किन्तु आज प्राय यह माना जाता है कि यह प्रणाली उस समय तक दोषपूर्ण है जब तक कि इसे अनेक रक्षात्मक पूर्वोपायों द्वारा सुरक्षित न बना लिया गया हो। जैसे-जैसे श्रम-संघों का विकास होता गया वे प्राय इस प्रणाली के विरुद्ध होते गये और उनके द्वारा इस पर किये गये प्रारम्भिक प्रहारों के सिलसिले में उनका झुकाव असमानी दरों की ओर अधिक रहा है जिससे कि वे इसके अनेक दोषों से सुरक्षित हो सकें।

10 तोल एवं माप —उजरत पर कार्य करने वाला श्रमिक, जो किसी संघ अथवा वैधानिक सुरक्षा द्वारा समर्पित नहीं है ऐसे नियोक्ता या उप-अनुबन्धक अथवा फोरमैन का सहज शिकार बन सकता है जो उसकी कमजोरी का लाभ उठाने के लिये तत्पर है। श्रमिक दर के विषय में मौखिक सहमति के आधार पर कार्य करना स्वीकार करता है। वेतन के दिन उसे यकायक यह पता लग सकता है कि उसके वेतन का हिसाब निम्न दर से लगाया गया है। अथवा, उसे यह ज्ञान हो सकता है कि उसके कार्य की माप या गिनती करते समय उसके हिसाब में उसके द्वारा पूरी की गयी संख्या से कम संख्या उसके खाते में जमा की गयी है। नियोक्ता के विरुद्ध उसके पास उसकी जुबान के अलावा कुछ भी नहीं है और यदि नियोक्ता

अपनी बात पर अड जाता है तो श्रमिक के पास यह सिद्ध करने के लिये कि वह सही है कोई प्रमाण अथवा उपचार नही है। यदि श्रमिक काम छोड देता है तो सम्भवत नियोक्ता उसके स्थान पर किसी अन्य की नियुक्ति कर सकता है और यदि रिक्त स्थान की पूर्ति शीघ्रता से नही भी की जा सकती है तो भी नियोक्ता को थोडे लाभ की ही हानि होती है, जबकि श्रमिक को यह भय रहता है कि अन्यत्र जाकर भी वह इससे उत्तम स्थिति मे नही होगा और यह भी हो सकता है कि उसे अन्यत्र कोई कार्य मिले हो नही। प्राय आदेशित कार्य के गुण एव सही स्वरूप अथवा "खराब कार्य" की परिभाषा के विषय मे इससे भी अधिक बारीक समस्याय उत्पन्न हो सकती है।

इसमे निबटने के लिये ससद द्वारा अनेक अधिनियम पारित किये गये है। सन् 1824 से ही अधिनियम मे काम के प्रत्येक भाग के साथ श्रमिक को एक "टिकट" दिये जाने की व्यवस्था थी जिस पर किये जाने वाले कार्य के स्वरूप तथा चुकाई जाने वाली उजरत दर का उल्लेख होता था। किसी विवाद के समय यह "टिकट" वैधानिक प्रमाण होता था। लेकिन नियोक्ता के लिये इसका प्रयोग ऐच्छिक रहा। सन् 1845 मे होजरी और रेशमी वस्त्र उद्योगो में "टिकट" का प्रयोग अनिवार्य कर दिया गया जहा इस बारे मे अनेक शिकायतें पाई गई थी। सन् 1891 मे फैक्ट्री और वर्कशाप अधिनियम के द्वारा तमाम वस्त्र उद्योगो मे काम का लिखित विवरण दिया जाना अनिवार्य कर दिया गया। सन् 1895 मे गृह-सचिव को यह अधिकार दिया गया कि वह विशेष आदेश के द्वारा इस दायित्व को अन्य उद्योगो पर भी लागू कर सकता था। सन् 1901 मे उजरत पर काम करने वाले नियोक्ताओ के लिए किसी प्रमुख स्थान पर दरो की सूची लटकाना अथवा कार्य के प्रत्येक भाग के लिये विवरण का एक "टिकट" जारी करना आम तौर पर अनिवार्य कर दिया गया। पूरे किये गये काम की माप एव तोल के विषय मे सन् 1872 मे खनिको को यह अधिकार प्राप्त हो गया कि वे खान मे काम करने वाले उजरत श्रमिको की ओर से एक जांच करने वाला तुलारा (Check weigher) नियुक्त कर सकते थे, जिसे उनकी ओर से भुगतान किया जाता था और जो खान के मुख पर टबो की तोल के समय श्रमिको का प्रतिनिधित्व करता था। किन्तु यह नाम मात्र का अधिकार एक शुरूआत ही थी ऐसे तरीके थे जिनके द्वारा खान का अधिकारी मालिक यदि चाहता तो 'हस्तक्षेप करने वाले' जाच के लिये नियुक्त तुलारे की आखो मे धूल झोक सकता था और यहा तक कि उसके चुनाव के समय दबाव डाल सकता था। अत. बाद के अधिनियमो मे यह व्यवस्था की गयी कि जाच करने वाले तुलारे के अधिकार नाम मात्र के होने के साथ-साथ वास्तविक भी होने चाहिए। उसे एक और ऐसी प्रत्येक सुविधा प्रदान की जाती थी जिससे वह उन कर्तव्यो को पूरा कर सके जिनके लिये उसे नियुक्त किया गया था" जबकि

स्वतन्त्रता नही होती थी, जब तक कि वह अपनी नौकरी से त्याग पत्र न देदे। अठारहवी शताब्दी के मध्य से ऐसे अधिनियम प्रचलित थे जिनमे यह व्यवस्था थी कि मजदूरी का भुगतान "राज्य की उत्तम एव वैधानिक मुद्रा" मे ही किया जाना आवश्यक था। किन्तु ये कानून केवल कागजी थे। बुराई के विरुद्ध प्रथम गम्भीर प्रयास सन् 1831 के ट्रक–अधिनियम के द्वारा किया गया। इसके द्वारा ऐसे अनुबन्धो पर प्रतिबन्ध लगा दिया गया जिनमे श्रमिक को नकद के अतिरिक्त अन्य किसी प्रकार से अपनी मजदूरी लेने के लिये सहमत होने अथवा उसे अपनी मजदूरी किसी विशेष प्रकार से व्यय करने के लिये विवश करने की व्यवस्था होती थी और इसके द्वारा जुर्माने के लिये मजदूरी मे से कटौती पर रोक लगा दी गई। एक बाद के अधिनियम के द्वारा सन् 1887 में दुकानदारो से माल खरीदने के लिए दिये गये आदेश के रूप मे मजदूरी के भुगतान को सर्वथा निषिद्ध कर दिया गया और किसी विशेष प्रकार से धन का व्यय न करने पर मालिक द्वारा अपने कर्मचारी को सेवा मुक्त किया जाना अवैध घोषित कर दिया गया। अन्त में सन् 1896 के ट्रक-अधिनियम मे जुर्मानो एव औजारो आदि के लिये मजदूरी मे से की जाने वाली कटौतियो के विषय पर पूरा ध्यान दिया गया। सन् 1831 के अधिनियम की तुलना मे इस अधिनियम मे इस प्रकार की कुछ कटौतियो को वैध बना दिया गया जिनमे सम्बन्धित मदों के बारे मे सूचना दी गई हो और उस सूचना को सार्वजनिक रूप से प्रदर्शित किया गया हो। अत आज स्थिति यह है कि नकद के अलावा अन्य किसी प्रकार से भुगतान करना और मजदूरी को किसी विशेष तरीके से व्यय करने के लिये श्रमिक को विवश करना अवैध है। किसी नियोक्ता के लिए यह भी अवैध है (सन् 1902 के दुकान-क्लब अधिनियम के द्वारा) कि वह सेवा प्रदान करने की यह शर्त रखे कि श्रमिक किसी विशेष "दुकान क्लब" या मैत्रिक समिति अथवा स्वय उसकी किसी निजी गोष्ठी मे सम्मिलित हो ही। इसके विपरीत किराये, दिये गये औजार तथा माल एव अनुशासनात्मक जुर्माने के लिये मजदूरी मे से कटौतिया करने की अनुमति है। अत: नियोक्ता के लिये इनमे से कुछ मामलो मे से अब भी यह गुन्जाइश रह जाती है कि यदि वह चाहे तो अप्रत्यक्ष तरीको से उसके द्वारा दी जाने वाली मजदूरी मे "गोल-माल" कर सकता है। तथा ऐसी कटौतियो का आकार-प्रकार प्राय विवाद और विरोध का कारण हो सकता है।

12. **लाभ सहभाजन (Profit Sharing)**–कुछ नियोक्ता परिणामानुसार भुगतान की साधारण प्रणालियो के अतिरिक्त अथवा उनके अलावा श्रमिको मे अधिक उत्पादन के लिये सामूहिक भावना उत्पन्न करने और फर्म की सफलता मे कर्मचारियो को वित्तीय हित प्रदान करने के उद्देश्य से लाभ सहभाजन नामक प्रणाली को पसन्द करते है। कभी कभी इस प्रणाली के साथ सह साझेदारी योजना भी सम्बद्ध होती है जिसके अन्तर्गत व्यवसाय मे भाग प्राप्त करने के लिये कर्मचारियों

सामूहिक बोनस का हिसाब किसी श्रमिक या श्रमिको की टोली के काम के आधार पर न लगाया जाकर समस्त सस्था के वित्तीय परिणामो के आधार पर लगाया जाता है। कुछ अर्थो मे भुगतान की अन्य बोनस प्रणालियो की अपेक्षा इसमे इस बात की सम्भावनाये कम है कि यह अपने उद्देश्यो मे सफल हो ही जाय, क्योकि बोनस का श्रमिक के प्रयत्न से प्रत्यक्ष सम्बन्ध कम होता है और इसलिये उसे अपने प्रयत्नो को बढाने मे प्रेरणा प्रदान करने मे यह अधिक प्रभावशाली नही हो सकती और यह अन्य ऐसे कई कारणो पर निर्भर है जो श्रमिक के नियन्त्रण से परे हैं जैसे वित्तीय परिस्थितिया, बाजार की स्थिति और प्रबन्धको की कुशलता। अन्य प्रकार के बोनस की भाति यदि यह अपने उद्देश्यो मे कुछ अश तक सफल भी होती है तो इसका कारण भी ठीक यही होगा कि यह काम की तीव्रता और श्रम की उत्पादकता मे वृद्धि करती है और इस प्रकार सकल उत्पाद (Gross Product) मे दिये जाने वाले बोनस से अधिक वृद्धि करती है। किन्तु आम तौर से श्रम सघो को यह सन्देह रहा है कि ऐसी योजनाओ का इसके अतिरिक्त कोई अन्य उद्देश्य भी होता है अर्थात् श्रमिक को किसी फर्म विशेष से बाधकर तथा श्रम सघो की शक्ति को क्षीण करके नियोक्ता को सामूहिक सौदाकारी के प्रतिबन्धो से मुक्त करना है और चू कि लाभ सहभाजन की अधिकाश योजनाओ मे, व्यक्त या अव्यक्त रूप मे, वे इस प्रकार का उद्देश्य निहित होने का स देह करते हैं, इसलिये श्रम सघो द्वारा इस प्रकार के प्रस्तावो का विरोध करने की परम्परा रही है।

13 परिणामानुसार भुगतान एव आय— भुगतान की समस्त रीतियो मे उनके वास्तविक परिणाम अपनाई गई रीति-विशेष के साथ साथ उन परिस्थितियो से भी प्रभावित होगे जिनके अन्तर्गत वे लागू की जाती हैं। अत यह निर्णय करने के लिये कि नियोक्ता एव कर्मचारियो के हितो पर उनका क्या प्रभाव होगा हमे रीति की अपेक्षा उनके चारो तरफ पाई जाने वाली परिस्थितियो पर ध्यान केन्द्रित करना होगा और यह कहना कठिन है कि कोई एक प्रणाली, उन परिस्थितियो के बावजूद जिनमे वह लागू की जाती है, स्वय मे उत्तम है अथवा बुरी है। विभिन्न रीतियो को वस्तुत. इस प्रकार वर्गीकृत किया जा सकता है कि वे वेतन मे होने वाले परिवर्तनो और प्रयत्न मे होने वाले परिवर्तनो मे क्या सम्बन्ध स्थापित करती हैं। किन्तु यह तब तक पर्याप्त नही होगा जब तक कि यह ज्ञात नही होता कि श्रमिको को चुकाई जाने वाली मूल दर क्या है। उदाहरण के लिये, यह निर्णय करने मे कि क्या कोई उजरत की दर किसी श्रमिक के लिये लाभदायक है, केवल यह जान लेना ही पर्याप्त नही होगा कि यह उसे प्रयत्न मे 10 प्रतिशत वृद्धि प्रदान करती है। परिश्रम को देखते हुए यदि प्रारम्भिक मजदूरी न्यून है तो श्रमिक को अपने परिश्रम और उत्पादन मे बहुत अधिक मात्रा मे वृद्धि कर देने पर भी केवल कुछ अतिरिक्त पैन्स ही प्राप्त हो सकेंगे, और अमानी पर काम करने वाले श्रमिक की

तुलना मे उजरत पर काम करने वाले श्रमिक के द्वारा उसमे एक तिहाई या एक चौथाई और अधिक तीव्रता मे काम करने पर भी कुछ ही अधिक आय प्राप्त की जा सकेगी। प्रीमियम-बोनस प्रणाली की दशा मे निर्धारित किये गये "मानक समय" पर सब कुछ निर्भर करेगा। यदि मानक सबसे गतिवान श्रमिक की गति के आधार पर निर्धारित किया जाता है तो उससे कम समय मे कुछ ही श्रमिक काम पूरा कर सकेंगे और बोनस का लाभ भी कुछ ही व्यक्तियो को प्राप्त हो सकेगा। यहा तक कि यदि मानक से भी ऊपर अतिरिक्त कार्य के लिये मजदूरी मे भी आनुपातिक वृद्धि कर दी जाय, तो भी यदि निर्धारित मानक बहुत ऊचा है, तो एक औसत श्रमिक के सामान्य उत्पादन की तुलना मे बढे हुए प्रयास के प्रति बढे हुए वेतन का अनुपात नीचा होगा। इसी प्रकार लाभ सहभाजन के साथ श्रमिक को प्राप्त होने वाली आधारभूत मजदूरी उसे प्राप्त होने वाले अतिरिक्त लाभ बोनस की अपेक्षा कदाचित अधिक महत्वपूर्ण होती है। यदि कोई नियोक्ता प्रत्येक व्यक्ति को 10 पौन्ड वार्षिक बोनस देता है किन्तु साथ ही ऐसा गोलमाल करता है कि कुल मिलाकर मजदूरी मे 4 शिलिंग प्रति सप्ताह की कमी हो जाती है, तो पहले की अपेक्षा उसका कुल मजदूरी बिल अधिक नही होगा तथा योजना पर उसका कोई व्यय नही आयगा। यही कारण है कि ऊची आय की तत्काल सम्भावना की अपेक्षा श्रमिक संघ किसी नवीन पद्धति के सामूहिक सौदाकारी पर पडने वाले प्रभाव के बारे मे अधिक चिन्तित होते हैं। इसी कारण से यदि श्रमिक सुदृढ रूप से सगठित नही है, तो वे परिणामानुसार भुगतान के अधिक विरुद्ध होते हैं बजाय इसके कि जब वे यह अनुभव करते हो कि वे इसके सचालन के तरीके को नियन्त्रित करने की पर्याप्त सुदृढ स्थिति मे है।

गलतफहमी को दूर करने के लिये यह ध्यान रखना चाहिये कि उजरत-दरों की कोई भी प्रणाली व्यवहार मे उस समय तक लागू नही की जाती जब तक कि वह समय की प्रति इकाई के अनुसार आय के किसी मानक से सम्बद्ध न हो जाय। दूसरे शब्दो मे, उजरत-दरें समयानुसार आय के किसी प्रकार के ढाचे के अन्तर्गत ही कार्यशील होती है, और इन प्रणालियो के वास्तविक चलन मे जो अनेक जटिलतायें दिखाई देती हैं, वे इस कारण होती है कि समस्त दशाओ और स्थितियों मे उत्पादन की विशेष मात्रा के लिये समान दरो एव समय की प्रत्येक अवधि के लिये समान आय के बीच विभिन्न प्रकार के समझौते करने का प्रयत्न किया जाता है। उदाहरण के लिये, जूता एव बूट उद्योग मे किये गये राष्ट्रीय समझौते मे कार्य-मूल्यो (Job Prices) का कोई उल्लेख नहीं है। इसमे केवल विभिन्न वर्गो के श्रमिको की आय की कुछ साप्ताहिक दरो को उल्लिखित किया जाता है और निर्देश दिया जाता है कि प्रत्येक स्थान पर उजरत-दरें इस प्रकार से निश्चित की जायेंगी कि औसत श्रमिक को निर्धारित आय की दरो के अतिरिक्त

25 प्रतिशत अधिक आय प्राप्त करने की क्षमता उपलब्ध हो सके।" इसका अर्थ यह हुआ कि उजरत दरें इस प्रकार से समायोजित की जायेंगी कि जिससे व एक 'औसत श्रमिक" को जहां तक उसका सम्बन्ध है समान आय प्रदान कर सकें। कुछ कार्यों में "जिसमें असाधारण कुशलता अथवा लम्बी प्रशिक्षण अवधि की अपेक्षा होती है," अथवा "दूरगामी जिलों में" जहां निम्न कोटि के माल का उत्पादन किया जाता है, इसके लिए कुछ अपवाद हो सकते हैं। किन्तु इस समान आय नीति की स्थानीय व्याख्या में पर्याप्त भिन्नता मिलती है। नौर्थम्पटन जैसे कुछ केन्द्रों में प्रत्येक फर्म के लिए कार्यों की उजरत दरें पृथक रूप से निर्धारित की जाती हैं,[1] जिसका परिणाम यह होता है कि अधिक उत्तम रूप से संगठित एवं सुसज्जित फर्म की प्रति जूता मजदूरी लागत कम कुशल फर्म की अपेक्षा कम होती है, क्योंकि पहले फर्म की दशा में उजरत मूल्यों को निम्न स्तर पर समायोजित करने की प्रवृत्ति इस आधार पर पायी जाती है कि उक्त संगठन और मशीनों के द्वारा श्रमिक एक दिन में अधिक माल निकालने की स्थिति में होते हैं। किन्तु अन्य केन्द्रों (जैसे नोरविच और लीसेस्टर) ऐसी समान मूल्य-सूचियां होती हैं जो समस्त (अथवा लगभग समस्त) फर्मों के कार्यों पर लागू होती हैं, और इस प्रकार उन फर्मों की मजदूरी-लागतें तो समान कर दी जाती हैं जबकि अधिक कुशल फर्म के श्रमिक कम कुशल फर्म में नियुक्त श्रमिकों की अपेक्षा अधिक आय प्राप्त कर सकने की स्थिति में होते हैं। मशीनों की गति में भिन्नता के जटिल तत्व और उत्पादन एवं आय पर पड़ने वाले उसके प्रभाव को देखते हुए औद्योगिक क्षेत्रों में राष्ट्रीय स्तर पर समान मशीन मूल्यों का निर्धारित करने के पक्ष में मत रहा है, अर्थात् समस्त औद्योगिक जिलों में समान मशीनों पर कार्य के लिए समान उजरत दरों का निर्धारण किया जाय।

समान आय प्रणाली को बनाये रखने एवं सुधरी हुई मशीनों का प्रयोग करने वाली फर्म की लागतों में कुछ कमी करने के उद्देश्य से मशीनों की विभिन्न गतियों के अनुसार उजरत दरों को समायोजित करने का प्रश्न वस्त्र उद्योग में उजरत-दरों की अधिकांश जटिल प्रणालियों के लिए उत्तरदायी रहा है। सूत की कताई में निर्धारित अवधि में काते गये सूत की मात्रा सूत की किस्म (अर्थात् कताई प्रक्रिया में सूत को दिये जाने वाले 'मरोड़" की मात्रा) तथा मशीन के नयेपन अथवा पुरानेपन के अनुसार अधिक या कम हो सकती है। एक परम्परागत

---

1 इन तथाकथित "दुकान विवरणों" (Shop Statements) का सम्बन्ध सम्पन्न निर्माण एवं तत्सम्बन्धी विभागों से होता है किन्तु रोवन या क्लस्टर की आवाज वाले (Clicking) एवं घटिया माल-सम्बन्धी विभागों में विस्तृत विवरण होते हैं जिनमें समस्त जिले के लिए समान मूल्यों की व्यवस्था होती है और जिन्हें कार्य की किस्म, जूते की किस्म व प्रयुक्त कच्चे माल की किस्म के अनुसार श्रेणीबद्ध किया जाता है।

प्रणाली (जिसे बाल्टन लिस्ट के नाम से सम्बोधित किया जाता है) मे, इनमें से प्रथम कारण से होने वाले परिवर्तनो से काते हुए सूत की मात्रा मे परिवर्तनो के लिए तो नियमन है लेकिन दूसरे कारणो से उत्पन्न परिवर्तनो के लिए नही है। एक अन्य प्रणाली मे (जिसे 'ग्रोल्डहम लिस्ट' कहा जाता है) इन दोनो कारणो से कताई की गति में होने वाले परिवर्तनो के अनुसार श्रमिक को, उसके द्वारा काते गये सूत की लम्बाई के लिये चुकाये जाने वाले मूल्य मे स्वत होने वाले समायोजन की व्यवस्था थी और इस प्रकार यह प्रणाली समान आय समझौते का लगभग पूरी तरह पालन करती थी।[1] अन समयानुसार मशीनो मे किये गये सुधारो ने, विभिन्न फर्मों मे उनमे प्रचलित उजरत दरो की प्रणाली के अनुसार, लागतो एव आय दोनो को प्रभावित किया है। उत्तरी लकाशायर के सूती वस्त्र प्रधान जिलो के अधिकाश क्षेत्रो मे भूतकाल मे प्रचलित मुख्य मूल्य-सूची (नोर्थ लकाशायर काटन वीविंग लिस्ट) मे तथा यार्कशायर के ऊनी वस्त्र उद्योग के अधिकाश क्षेत्रो मे प्रचलित सूची (हडर्सफील्ड वीविंग लिस्ट) मे इसी प्रकार की भिन्नता दृष्टिगोचर होती है, अर्थात् मशीनो मे होने वाले सुधारो के कारण बुनाई की गति मे लायी गयी तीव्रता के साथ साथ उजरत दरो में गिरावट की व्यवस्था दूसरी सूची में तो थी, किन्तु पहली में नही थी।[2] अत मजदूरी भुगतान की किसी प्रणाली के श्रमिको की आय पर पडने वाले सुनिश्चित प्रभावो का अनुमान उस समय तक नही लगाया जा सकता जब तक कि इस प्रकार के सूक्ष्म विवरणो पर पूर्ण ध्यान नही दिया जाता।

---

1. इसमें केवल यह अपवाद था कि मशीन की बढी हुई गति के कारण होने वाले अधिक उत्पादन के परिणाम एक ओर नियोक्ता को होने वाली निम्न लागत और दूसरी ओर श्रमिक को होने वाली अधिक आय में समान रूप से विभाजित कर दिया जाता था और जहा तक कपडे की लम्बाई का प्रश्न था (अर्थात् प्रत्येक कपडे के तन्तुओं की सख्या का, जो श्रमिक के कार्य की मात्रा को प्रभावित करती है) कपडे की अतिरिक्त लम्बाई के कारण होने वाले अतिरिक्त उत्पादन के प्रभाव का दो तिहाई अतिरिक्त आय में सम्मिलित कर दिया जाता था।

2 यह अनुमान लगाया गया है कि सन् 1886 और 1913 के मध्य सूती वस्त्र निर्माण उद्योग में मजदूरी की दरों में यद्यपि 18 प्रतिशत की वृद्धि हुई, किन्तु मशीनों के सुधारों और बुनाई की अधिक तीव्रता के कारण आय की दरों में सम्भवत इससे दुगुनी वृद्धि हुई। दूसरी ओर, युद्धों के बीच की अवधि में मशीनों की दशा में सम्भवतः गिरावट आयी, जबकि कच्चे माल की निम्नकोटि और विशिष्टीकरण के अभाव के कारण उत्पादन की गति में शिथिलता आयी और इसलिये बुनकरों की आय में गिरावट आ गई। इसके कारण और निम्न मजदूरी की दरों तथा अल्प रोजगार के कारण सन् 1930 से प्रारम्भ होने वाली दशाब्दी में बुनकरों की प्रति घंटे आय की दरें पुरुष श्रमिकों के लिये अन्य व्यवसायों की तुलना में निम्नतम हो गयीं।

14. विसर्पी-क्रम या सरकने वाला क्रम (Sliding Scales)—अनेक उद्योगों में मजदूरी-समझौतों में यह व्यवस्था होती है कि तय की हुई मजदूरी की मौद्रिक दरें विसर्पी क्रम के आधार पर किसी सूचनाक से सम्बद्ध होंगी और समय-समय पर इस सूचनाक मे होने वाले परिवर्तनों के साथ-साथ उनमें भी परिवर्तन होता रहेगा। विसर्पी-क्रमों के जो तीन प्रमुख प्रकार प्रचलित है वे क्रमश. निर्वाह व्यय सूचनाक, सम्बन्धित उद्योग के उत्पादन के मूल्य और उद्योग के लाभों के किसी सूचनाक से सम्बद्ध हो सकते है। लाभ सहभाजन जिसके बारे में हम पहले उल्लेख कर चुके हैं, इस अन्तर के साथ तृतीय किस्म के वर्ग म सम्मिलित की जा सकती है, कि इसमे मजदूरी-बोनस का मूल्याकन समस्त उद्योग के लाभो के बजाय एकाकी फर्म के लाभो के आधार पर किया जाता है। लाभ विसर्पी-क्रम का एक महत्वपूर्ण उदाहरण कोयला खान उद्योग मे सन् 1921 के समझौते के द्वारा मजदूरी निश्चय-करण प्रणाली के लागू करने के रूप मे था। इसके अनुसार उद्योग की सकल प्राप्तियो या आय (Gross Receipts) मे से पहले, मजदूरी के अलावा अन्य लागतो को और फिर कथित "मानक मजदूरी" और 'मानक-लाभो" को घटाकर शेष राशि को मजदूरी एव लाभो के मध्य किसी निश्चित अनुपात मे विभाजित कर दिया जाता था जिसका उद्देश्य यह होता था कि उद्योग की सकल आय क साथ-साथ मजदूरी एव लाभ भी घटते-बढते रहने चाहिये।[1] किन्तु इस उद्देश्य की पूर्ति के लिये प्रत्येक जिले के खान उद्योग में पृथक रूप से गणना की गयी जिसका फल यह हुआ कि लकाशायर अथवा डर्बीशायर अथवा यार्कशायर में मजदूरी मे होने वाले परिवर्तनो के स्तर में तथा साउथ वेल्स, अथवा डरहम, अथवा फाइफशायर मे मजदूरी में होने वाले परिवर्तनों के स्तर मे पर्याप्त अन्तर आ गया। उत्पादन के विक्रय मूल्य पर आधारित विसर्पी-क्रम का प्रमुख उदाहरण आज हमें लोह एव इस्पात उद्योग में मिलता है, किन्तु भूतकाल में इसके प्रचलन के अवसर पर श्रमिको द्वारा इसका प्रबल विरोध किया गया और इस प्रणाली के विरुद्ध हडताले हुई हैं। पिछली शताब्दी के अन्त मे उत्तर के कुछ खनिज जिलो में जहा विसर्पी-क्रम प्रचलित किया गया, यही दशा थी और अनेक वर्षों तक घोर सघर्ष हुए जिनका परिणाम यह हुआ

---

1. लाभों एवं मजदूरी के मध्य आय के इस वितरण के साथ यह शर्त थी कि श्रमिकों को एक न्यूनतम राशि का भुगतान अवश्य किया जायगा। यदि किसी वर्ष यह आय इस न्यूनतम राशि को चुकाने के लिये पर्याप्त नहीं होती थी तो नियोक्ताओं को अपने मानक लाभों का कुछ भाग छोडना पडता था, किन्तु अगले वर्षो में प्राप्त होने वाले अधिशेष (Surplus) में से इस कमी को पूरा करने के लिये सर्वोच्च प्राथमिकता देनी होती थी। युद्धों के बीच के अधिकाश वर्षों में इस प्रकार की कमी रही और मजदूरी का स्तर न्यूनतम बिन्दु की तरफ रहा।

नि भ्रम म इसे हटा दिया गया । झगडे की जड के रूप में इसने श्रमिक सघ जगत म मतभेद उत्पन्न कर दिया जिसम नाथम्बरलैन्ड और डरहम तथा साउथ वेल्स भी) क पुरान खनिज जिला के श्रमिक सघो न इसका समर्थन किया तथा यार्कशायर और लकाशायर के अपेक्षाकृत नवीन सघो ने इसका विरोध किया तथा अलग होकर नवीन राष्ट्रीय सघ की स्थापना कर ली । निर्वाह व्यय सूचनाक पर आधारित विसर्पी क्रम इन तीनो में सबसे अधिक सामान्य है और रेल जहाज, हौजरी जूता और बूट उद्योग सहित अन्य अनेक उद्योगो में लागू है । कुछ मजदूरी परिषदें [1] उनके द्वारा निधारित न्यूनतम मजदूरी की दरो के साथ एस विसर्पी क्रम को लागू करती हैं जिससे कि यदि श्रम मन्त्रालय के निर्वाह व्यय सूचनाक में होने वाले परिवर्तनो में कुछ अका का अन्तर आता है तो कायशील न्यूनतम दरो में भी स्वत ही कुछ थोडी कमी या वृद्धि कर दी जाती है ।

ध्यान देने योग्य बात यह है कि हमारे द्वारा विवेचित भुगतान की किसी भी प्रणाली की तुलना म विसर्पी क्रम में यह आधारभूत अन्तर हमें दिखाई देता है कि चाहे उत्पादन के आधार पर भुगतान किया जाय अथवा समयानुसार के आधार पर भुगतान किया जाय अथवा भुगतान की रीति में समय की अवधि एव उत्पादन की मात्रा के अनुसार फेर बदल किया जाय इसका सम्बन्ध उस आधार से बिल्कुल नही है जिसके अनुसार भुगतान किया जाता है । इसका सम्बन्ध तो किसी समयावधि में आर्थिक स्थिति व कुछ अन्य लक्षणो में होने वाले परिवर्तनो के साथ साथ दर (भले ही वह किसी भी आधार पर या स्तर पर निर्धारित की गयी हो) में होने वाले परिवर्तनो से पूरी तरह से है । इसका अभिप्राय मजदूरी को अधिक लोच प्रदान करना और, यदि परिस्थितियो में ऐसा कोई परिवर्तन हो जिसके कारण समायोजन करना आवश्यक समझा जाय, तो उनके स्वत होने वाले समायोजन की व्यवस्था करना है । किन्तु यह एक महत्वपूर्ण तथ्य है कि इन विसर्पी क्रमो को लोचपूर्ण बनाने के पीछे विभिन्न अभिप्राय निहित होते हैं । लाभ पर या विक्रय मूल्य पर आधारित विसर्पी क्रम इस प्रकार निर्मित होते हैं कि लाभ एव विक्रय मूल्य को क्रमश इस सम्पन्नता का सूचक मानते हुये, उद्योग की सम्पन्नता में परिवर्तन के साथ साथ मजदूरी में भी तदनुरूप परिवर्तन हो जाता है । इस अभिप्राय के पूरक के रूप मे विक्रय मूल्य क्रम (Selling Price Scale) में यह स्पष्ट कमजोरी है कि वह स्वय म व्यापार की दशा का कोई सही सूचक नही है विक्रय मूल्य में कमी किसी महत्वपूर्ण कच्चे माल की लागत में कमी अथवा मशीनो के प्रयोग में अधिक मितव्ययिता का भी उतना ही सकेत देती है जितना कि उस वस्तु की बाजार माग म गिरावट का । गत शताब्दी में कोयला उद्योग में विसर्पी-क्रम के विरुद्ध यह शिकायत थी कि बुरे समय में मजदूरी में "गिरावट की कोई सीमा

1 देखिये आगे अध्याय 8 में।

नही होती था", क्योकि इसके द्वारा, प्रतियोगिता मे अत्यधिक सीमा तक कोयला मूल्यो की पारस्परिक कटान को प्रोत्साहन मिलता था जिसका कारण यह था कि नियोक्ताओ को कोयले के मूल्य मे कमी करने के लिए एक अतिरिक्त प्रेरणा (पहले की अपेक्षा कम मजदूरी) प्राप्त हो जाती थी। कुछ सीमा तक लाभ-विसर्पी क्रम मे भी यह कठिनाई उत्पन्न हो सकती है यद्यपि अन्य प्रकार से (मुख्यत लाभ की गणना से सम्बन्धित इसकी कुछ अपनी व्यावहारिक कठिनाइयो को छोड कर) इसके प्रयोजन की पूर्ति मे यह अधिक सफल हुआ है। इसके विपरीत निर्वाह व्यय सूचनाक का मूल्याकन स्पष्टत किसी अन्य मापदण्ड के द्वारा किया जाना चाहिए। किसी उद्योग मे सम्पन्नता की स्थिति के सूचक के रूप मे यह स्पष्टतया निरर्थक है, क्योकि यह अनेक प्रकार की ऐसी वस्तुओ को क्रय करने की लागत पर आधारित है जिनमे सम्बन्धित उद्योग का न तो उत्पादन और न उसका कोई कच्चा माल ही सम्मिलित किया जा सकता है। यदि सम्बन्धित उद्योग के बाजार-मूल्य अथवा उसके लाभो मे परिवर्तन के साथ-साथ इस सूचनाक मे भी परिवर्तन होता है तो यह केवल एक सयोग मात्र ही होगा। निर्वाह-व्यय-क्रम मजदूरी—समझौते की अवधि के लिए वास्तविक मजदूरी मे यथासम्भव स्थायित्व प्राप्त करने का प्रयत्न करता है। यह सम्भव है कि किसी उद्योग-विशेष के नियोक्ता यदि परिवर्तनशील व्यापारिक दशाओ के अनुरूप मजदूरी की दरो को अपनाने के इच्छुक है तो यह उनकी आवश्यकताओ से मेल न खा सके। किन्तु यदि मजदूरी समझौता सम्पन्न करने मे किसी श्रमिक सघ या न्यूनतम मजदूरी अधिकरण का अभिप्राय, नकद मजदूरी के बजाय वास्तविक मजदूरी के स्तर को निर्धारित करना है, तो इस प्रकार का क्रम उनके अभिप्राय की पूर्ति के लिए सर्वोत्तम माना जा सकता है। निर्वाह-लागत क्रम के पक्ष मे यह भी कहा जा सकता है कि यदि सामान्य मूल्य स्तर मे बडे परिवर्तन होते हैं, तो अधिकाश वस्तुओ के मूल्यो मे समान सीमा तक नही तो कम-से-कम समान दिशा में परिवर्तन होने की प्रवृत्ति अवश्य दिखाई देती है। अत यह क्रम श्रमिक के लिए स्थिर वास्तविक मजदूरी उपलब्ध करने के साथ-साथ नकद-मजदूरी को अधिक लोच प्रदान करता है और यह लोच उसी दिशा मे होती है जिस दिशा मे मूल्यो मे परिवर्तन होता है। किन्तु फिर भी एक महत्वपूर्ण प्रश्न शेष रह जाता है और वह यह कि क्या इस प्रकार की लोच प्राप्त करना एक वाछनीय उद्देश्य है, अथवा यदि परिवर्तनशील व्यापारिक दशाओ के अनुरूप नकद मजदूरी मे परिवर्तन कर दिया जाता है तो क्या इससे मन्दी के काल मे फैलने वाली बेरोजगारी मे कमी हो जायगी। अथवा क्या स्थिति मे एक स्थिर तत्व की (बेलोच नकद मजदूरी) सतत उपस्थिति से आर्थिक दशाओ मे होने वाला उतार-चढाव स्थिरता प्राप्त कर लेगा।

15 **कार्य के घटे**—पहले नियोक्ता, प्रति घटे किये जाने वाले कार्य की तीव्रता मे वृद्धि करने के बजाय कार्य के घटो मे वृद्धि के द्वारा उत्पादन बढाने पर

अधिक ध्यान देने से नया सौ वर्ष पहले 12 घंटे से भी ऊपर और यहा तक कि 16 घण्ट तक का कार्यदिवस एक सामान्य-सी बात थी। ऐसा करने मे नियोक्ता इस तथ्य की अवहेलना करते थे कि "कम घण्टों की मितव्ययिता" एव ऊंची मजदूरी की मितव्ययिता जैसी भी कोई चीज है और यह कि कार्य के घण्टो को बढाकर वे अपने उद्देश्यो मे ही निष्फल हो जाते थे क्योंकि लम्बे कार्य के घन्टो की थकान का श्रमिकों के स्वास्थ्य और उनकी कार्य-कुशलता पर प्रभाव पडता था, तथा दूसरे काम की ऊची तीव्रता बनाये रखने की उनकी क्षमता मे कमी आ जाती थी। इतना अवश्य है कि अपेक्षाकृत कम घण्टा की मितव्ययिता या विशायन ऊची मजदूरी की मितव्ययिता की भाति केवल एक बिन्दु तक ही प्रभावशील होती है। कार्य के घण्टो मे कमी के साथ आरम्भ मे प्रति घण्टे उत्पादन मे वृद्धि, घण्टो की कमी के अनुपात म अधिक होती है, क्योंकि इसके फलस्वरूप प्रति घण्टे कार्य की ऊची तीव्रता प्राप्त हो जाती है। किन्तु एक बिन्दु ऐसा आ जाता है जहा प्रति घण्टे उत्पादन मे हुई आनुपातिक वृद्धि घंटो म की गई कमी से अधिक नही होगी और इस बिन्दु पर ही नियोक्ता का उत्पादन उच्चतम होगा। इस बिन्दु की स्थिति के बारे म कुछ मतभेद रहा है—एक मत के अनुसार यह प्रति दिवस 6 कार्य घण्टों तक है जबकि अन्य मत के अनुसार यह 9 घंटे या इससे भी कुछ अधिक है। इस बात के पर्याप्त प्रमाण उपलब्ध हैं जिनके आधार पर यह माना जा सकता है कि अनेक उद्योगो मे यह लगभग 8 घंटे पर है तथा इस सख्या मे विभिन्न उद्योगो के कार्य की प्रकृति के अनुसार कुछ घट-बढ की जा सकती है तथा यह प्राय निश्चित प्रतीत होता है कि अधिकाश व्यवसायों में 9 घंटे से अधिक कार्य दैनिक अथवा साप्ताहिक कुल उत्पादन को बढाने के बजाय कम कर देगा। प्रथम विश्व युद्ध की अवधि मे यह विशेष रूप से सिद्ध हो गया था जबकि गोलाबारूद उद्योग मे उत्पादन बढाने के उद्देश्य से कार्य के घण्टे बढा दिये गये थे और छुट्टिया कम कर दी गई थी। किन्तु शीघ्र ही यह महसूस कर लिया गया कि उत्पादन बढाने का यह तरीका अपने उद्देश्य मे निष्फल था और इसलिए पुन कार्यघंटो मे कमी कर दी गई। वस्तुतः परिवर्तित घंटो का उत्पादन पर पडने वाला प्रभाव एक ऐसा तथ्य है जिसमे नियोक्ता सबसे अधिक रुचि लेते हैं। कहने का अर्थ यह नही है कि अधिक फुरसत तथा कम थकावट के लाभ का ध्यान मे रखते हुए कार्य घण्टो मे इस बिन्दु से नीचे कमी करना सामाजिक दृष्टि से वाछनीय नही होगा।

अत पिछले दशको मे नियोक्ताओं ने घण्टो मे वृद्धि करने की अपेक्षा कार्य की गति मे तीव्रता लाने पर ध्यान केन्द्रित करने म अपना अधिक लाभ देखा है, यद्यपि इसकी भी उस समय अपनी सीमायें होंगी जबकि थकावट के द्वारा कुशलता पर कार्य की तीव्रता की प्रतिक्रिया होगी। फलस्वरूप कुल मिलाकर नियोक्ता कार्य-घण्टो मे कमी करने के बारे मे श्रमिक सघो की माग को स्वीकार करने के लिए

अनिच्छुक नही रहे है और आज अधिकाश व्यवसायो मे श्रमिक सघो और नियोक्ताओ मे सामूहिक सौदाकारी के द्वारा प्रति सप्ताह सामान्य कार्य-घण्टो की सख्या 44 या 45 स्थिर की जाती है। यदि किसी कर्मचारी से इससे अधिक काम लिया जाता है तो उसे अतिरिक्त घण्टो के लिए विशेष ऊ ची 'समयोपरि" दर (overtime-rate) से मजदूरी चुकानी होती है और यह प्रबन्धको को अपने श्रमिकों से सामान्य अवधि से अधिक कार्य लेने से रोकती है। कुछ दशाओ मे, जैसे कि भवन-निर्माण व्यवसाय म, समभौते मे यह उल्लेख होता है कि यदि कोई नियोक्ता "समयोपरि" काम लेने का इच्छुक है तो वह स्थानीय श्रमिक सघ के सचिव की पूर्व सहमति प्राप्त करेगा। यदि कोई श्रमिक सघ घण्टो मे कमी स्वीकार करता है तो साथ ही प्राय इस बात पर भी जोर देता है कि प्रति घण्टे दर मे वृद्धि की जाय जिसमे कि घण्टो मे कमी के कारण साप्ताहिक आय मे कमी न होने पावे। ऐसा करने से नियोक्ता को प्राप्त होने वाला वह अधिकाश लाभ समाप्त हो जाता है जो काम के कम किये गये घण्टो से प्राप्त होता है। किन्तु यदि इसका परिणाम प्रति घण्टे बढे हुए उ पादन के रूप में होता है, तो यह स्पष्टत न्यायपूर्ण होगा कि प्रति घण्टे मजदूरी की दरो को तदनुरूप बढा दिया जाय।

महिलाओ एव बालको के हित में अधिनियमो के अतिरिक्त श्रम के घण्टो को सीमित करने की दिशा में राज्य का योगदान बहुत कम रहा है, यद्यपि अधिकाश दशाओ मे जहा पुरुष और महिलाए दोनो साथ-साथ उसी कारखाने मे कार्य करते हैं, एक के कार्य-घण्टो के लिए किये गय परिसीमन ने दूसरे के कार्य-घण्टो को भी अपने आप परिसीमित कर दिया है। कोयला खान इसका एक अपवाद है जहा भूमिगत कार्य के लिए कार्य के घन्टे सन् 1908 मे 8 तथा सन् 1919 मे 7 तक सीमित कर दिये गये, यद्यपि बाद मे इस सीमा को फिर से 7½ घण्टे तक बढा दिया गया। दुकान बन्द करने सम्बन्धी अधिनियमो क द्वारा दुकान-सहायको के लिए भी कानून बनाये गये हैं। किन्तु इसके अतिरिक्त इस देश म पुरुष श्रमिको के कार्य-घण्टो के लिए कोई सीमा निर्धारित नही की गई है, और जबकि सन् 1920 के वाशिगटन सम्मेलन मे प्रति सप्ताह कार्य-घण्टो को कानून द्वारा 48 तक सीमित करने के विषय मे एक अन्तरराष्ट्रीय प्रस्ताव स्वीकृत कर लिया गया था, फिर भी ब्रिटिश सरकार ने बाद मे इसे कार्यरूप मे परिणित न करने का निर्णय किया। पिछली अर्द्धशताब्दी की अवधि मे कार्य घण्टो मे हुई कमी श्रमिक सघो एव नियोक्ताओ के बीच होने वाली सामूहिक सौदाकारी का ही परिणाम है और यह दोनो पक्षो के बीच सम्पन्न सामूहिक समभौतो मे समाविष्ट है।

मज़दूरी के सिद्धान्त

4

1. मजदूरी के सिद्धान्त का प्रयोजन:—मजदूरी के सिद्धान्त का प्रतिपादन करते समय कोई अर्थशास्त्री, उस रीति का एक अमूर्त चित्र या रेखाचित्र अंकित करने का प्रयत्न करता है, जो श्रम-शक्ति के मूल्य के रूप मे मजदूरी को अन्य मूल्यों अथवा आर्थिक मात्राओं से सम्बद्ध करती है। वह जो चित्र रेखांकित करता है उसका निर्माण इस प्रकार के परस्पर निर्भर सम्बन्धो द्वारा होता है जिनके अनुसार किसी एक बिन्दु पर हुआ परिवर्तन उसके अध्ययन के अन्तर्गत आने वाले समस्त क्षेत्र मे सापेक्ष परिवर्तन या फेर-बदल उत्पन्न कर देता है। उसका चित्र एक वास्तविक चित्र है अथवा नही है—यह इस बात पर निर्भर होगा कि उसकी रेखायें उस वास्तविक जगत की रेखाओं से मेल खाती हैं अथवा नही जिसका निरूपण करने का वह दावा करता है। साथ ही वह केवल चित्रण ही नही करता, बल्कि इससे भी कुछ अधिक करने का प्रयास करता है। न्यूनाधिक रूप मे वह चित्र को सरल बनाने का प्रयत्न तो करता ही है ताकि वह उन सम्बन्धो पर जिन्हे वह अधिक प्रमुख समझता है अधिक जोर दे सके, किन्तु साथ ही वह उसका निरूपण उस रीति से करने का प्रयत्न भी करता है कि जिससे परस्पर निर्भर सम्बन्धो की संरचना को उन "आधारभूत" मात्राओं पर आधारित किया जा सके जिनकी स्थिति का ज्ञान निरपेक्ष रूप से किया जा सके, और जो, एक बार ज्ञात होने पर इतनी पर्याप्त हो सके कि उनके आधार पर अन्य परिवर्तनशील मात्राओं (इस दशा मे मजदूरी) की स्थिति की गणना कर सकें। यदि वास्तव मे देखा जाय तो यथार्थ मे

कुछ भी स्वतन्त्र नही होता तथा प्रत्येक वस्तु पर न्यूनाधिक रूप मे किसी अन्य वस्तु की प्रतिक्रिया अवश्य होती है। किन्तु यदि अन्य परिवर्तनशील मात्राओ पर आधारभूत कारको का यह एकतरफा प्रभाव पर्याप्त रूप मे प्रबल होता है तो विपरीत प्रभावो को नगण्य माना जा सकता है और स्वतन्त्रता की मान्यता को अधिकाश प्रयोजनो के लिए पर्याप्त सीमा तक "उत्तम" माना जा सकता है। इस मान्यता के बाद एक ऐसे सिद्धान्त को प्रतिपादित किया जा सकता है जो, दिये हुए आकडो या आधारभूत कारको को एक बार ज्ञात कर लेने के बाद, मजदूरी के स्तर को आकने या निर्धारित करने मे उसी प्रकार सहायक होता है जिस प्रकार की यान्त्रिकी (Mechanics) मे एक बार निर्धारक शक्तियो की प्रबलता व स्थिति का ज्ञान होने पर, एक प्रमेय (Theorem), किसी साम्य की स्थिति (Equilibrium-position) की अथवा गति के कुछ मार्गो की परिकल्पना करने मे सहायक होता है। किन्ही दो कालो अथवा दो देशो के बीच मजदूरो मे अन्तर होने की दशा मे इस सिद्धान्त के द्वारा यह भी जाना जा सकेगा कि इस अन्तर के मूल कारण क्या हैं, अर्थात् कुछ मात्राओ मे होने वाले परिवर्तन मजदूरी मे स्थायी परिवर्तनो को सम्भव बना सकते हैं। इस सिद्धान्त का आरम्भ (जहा तक इसकी सत्यता का सम्बन्ध है) यथार्थ मे वस्तुओ के पारस्परिक सम्बन्ध का निरूपण करने वाले इस विवरण से है जो इस परिकलन का आधार है कि किन्ही निर्धारित दशाओं मे क्या परिवर्तन होंगे। जहा तक इसका सम्बन्ध है, इस परिकलन को आगे कार्य के लिए मार्गदर्शक के रूप मे प्रयुक्त किया जा सकता है—यह सिद्ध करने के लिए कि किस प्रकार पदार्थों या तथ्यो को परिवर्तित किया जा सकता है।

किन्तु कोई भी सिद्धान्त इसलिए गलत हो सकता है कि वे सम्बन्ध, जिनका वह निरूपण करता है, यथार्थ जगत का सही सही चित्रण प्रस्तुत नही करते, क्योकि या तो उनका अस्तित्व ही नही है अथवा उसमे ऐसे सम्बन्धो को छोड दिया गया है जिनका प्रमुख महत्व है और जिन पर विचार करना आवश्यक है। फिर भी यह आवश्यक नही कि कोई सिद्धान्त भले ही वह कुछ सीमा तक सही हो उन उद्देश्यो के लिये पर्याप्त ही हो, जिनकी पूर्ति के लिए उसका निर्माण किया गया है, अथवा उन प्रश्नो का समाधान कर ही दे जिनके समाधान की इससे आशा की गयी थी, क्योकि इसके द्वारा अलग किये गये जिन मूल कारको (Key factors) पर इसके परिकलन एव पूर्वानुमान आधारित है, वे कारण अन्य परिवर्तनशील मात्राओ पर उससे कही कम निर्भर हो सकते हैं जितना कि पहले समझा गया था। मजदूरी के सिद्धान्त के बारे मे लोगो ने प्राय यह मत व्यक्त किया है कि किसी सरल सिद्धान्त के प्रतिपादन के लिये श्रम बाजार यथार्थ मे परस्पर कार्यशील शक्तियो का इतना जटिल तन्त्र है कि इससे ऐसी गणना नही की जा सकती जो किसी विशेष प्रकार की स्थिति अथवा सीमित समय के परे भी

पर्याप्त रूप से मान्य हो। सांख्यिकीय प्रमाणों एवं यहां तक कि मजदूरी के व्यवहार की प्रकृति तथा अन्य कारकों में होने वाले परिवर्तनों के साथ-साथ मजदूरी में होने वाले परिवर्तनों के सह-सम्बन्ध के विषय में व्यवस्थित आंकड़ों के अभाव के कारण अब तक की प्रगति अवरुद्ध रही है। अतः मजदूरी के सिद्धान्तों का निर्माण यथार्थ जगत के अत्यन्त सरल चित्रण के आधार पर ही किया गया है जिसमें अधिक स्पष्ट विशेषताओं या मोटी रूपरेखाओं को सामान्य ज्ञान अथवा वस्तुओं के सामान्य स्वरूप के निष्कर्षों के आधार पर ही चित्रित किया गया है। सांख्यिकीय आंकड़ों के प्रसार की अब पूर्ति आरम्भ हो गयी है और हाल ही में इस प्रकार के आंकड़ों पर कुछ महत्वपूर्ण अध्ययन किये गये हैं जिनके आधार पर हम इस चित्र के महत्वपूर्ण स्थानों को भर सकते हैं। किन्तु यहां भी प्रायः यथार्थ जगत की जटिलताएं हमारे मार्ग में अत्यन्त बाधक होती हैं, क्योंकि यह सम्भव हो सकता है कि किसी स्थान या काल से सम्बन्धित आंकड़ों पर आधारित किसी सामान्य विवरण के लिए परिवर्तन और भिन्नता पर्याप्त रूप से अधिक हो, जिससे कि किसी अन्य स्थान अथवा काल की अवधि में परिस्थितियों के बदल जाने के पश्चात एवं शक्तियों के एक भिन्न प्रकार के जमघट में उसका बहुत सीमित उपयोग ही सम्भव हो सके।

2 **मजदूरी के परम्परागत सिद्धान्त**—मजदूरी के परम्परागत सिद्धान्त मुख्यतः काफी अनम्य (Rigid) प्रकार के रहे हैं, अर्थात्, उनमें मजदूरी का स्तर निर्धारण करने वाले कारकों का निश्चित एवं अत्यन्त सरल विवरण दिया गया है। उनमें से अनेक (यद्यपि सभी नहीं) इस बात को मान्यता प्रदान करते हैं कि कुछ अपवादों को छोड़कर श्रम-बाजार में आर्थिक शक्तियों की स्वतन्त्र क्रिया में हस्तक्षेप से मजदूरी के स्तर में स्थायी परिवर्तन नहीं हो सकते (कम-से-कम उस समय तक जब तक कि इसके साथ ही बेरोजगारी अथवा इसी प्रकार की कोई अन्य हानि श्रमिकों को नहीं पहुंचायी गयी है), भले ही यह हस्तक्षेप श्रमिक संघों द्वारा की गयी कार्यवाही के कारण किसी मानक मजदूरी पर लोगों को नियुक्त करने के लिए नियोक्ताओं को बाध्य करने के रूप में हो, अथवा न्यूनतम मजदूरी को लागू करने के लिये राज्य के द्वारा उठाये गये किसी वैधानिक कदम के रूप में हो। समय-समय पर इस प्रकार के सिद्धान्तों की आलोचना इस आधार पर की गयी है कि वे अनेक महत्वपूर्ण सम्बन्धों की अवहेलना करते हैं (विशेषकर दिये हुए कारकों पर मजदूरी के स्तर के विरोधी प्रभाव की) तथा यह मानकर चलते हैं कि मजदूरी उन दिये हुए कारकों द्वारा कठोर रूप से निर्धारित होती है जिन पर ये सिद्धान्त बल देते हैं जबकि यथार्थ में ऐसा नहीं होता है, तथा हाल के वर्षों में इस प्रकार की आलोचना ने फिर जोर पकड़ा है और अपने पक्ष के समर्थन के लिए कुछ ठोस तर्कों को एकत्र किया है। इसका विवेचन अगले अध्याय में किया गया है। फिलहाल हमारा सम्बन्ध केवल परम्परागत सिद्धान्तों द्वारा निरूपित विषय से ही है। इन सिद्धान्तों

को मोटे तौर पर दो वर्गों मे विभाजित किया जा सकता है । और यह ऐसे निर्धारक कारक की किस्म के अनुसार होता है जिस पर ये सिद्धान्त अधिक जोर देते है । एक ओर वे सिद्धान्त हैं जो मुख्यत श्रम-शक्ति की पूर्ति को प्रभावित करने वाले कारको (Factors) का निरूपण करते है और इनमे वस्तुत मजदूरी के उत्पादन-लागत सम्बन्धी सिद्धान्तो को सम्मिलित किया जा सकता है । दूसरी ओर वे सिद्धान्त है जिनमे इस बात को निरूपित किया गया है कि मजदूरी का निर्धारण मुख्यत नियोक्ताओ द्वारा श्रम की माग को प्रभावित करने वाले कारको द्वारा होता है, जैसे कि पू जी की पूर्ति और/या श्रम की उत्पादकता । कुछ अर्थशास्त्रियों (मुख्यत मार्शल[1]) ने दो प्रकार की व्याख्याओ के मध्य एक समन्वय स्थापित करने और इन दो प्रकार के निर्धारक प्रभावो के बीच सन्तुलन बनाये रखने का प्रयास किया है, और इस प्रकार एक सकर सिद्धान्त (*theory of a hybrid type*) को जन्म दिया है ।

3. निर्वाह-सिद्धान्त (The Subsistence Theory) —सबसे प्राचीन सिद्धान्त पूर्ति-सिद्धान्त था तथा कुछ हद तक वह इन सबकी तुलना मे सरलतम था । इसमे केवल यह वर्णन था कि श्रम का मूल्य श्रमिक के निर्वाह पर आधारित होता है । मजदूरी की राशि उन वस्तुओ की राशि के बराबर होनी है जो किसी श्रमिक और उसके परिवार के भोजन एव वस्त्रो क लिए आवश्यक होती है तथा यह समाज की उस लागत का प्रतिनिधित्व करता है जो "श्रमिको को अपना अस्तित्व बनाय रखने एव अपने वश की वृद्धि के लिये अपेक्षित है" (रिकार्डो) इसका अर्थ यह हुआ कि मजदूरी-प्रणाली के अन्तर्गत श्रमिक को प्राप्त होने वाली मात्रा दासत्व अथवा अर्द्धदासत्व के अन्तर्गत प्राप्त होने वाली मात्रा के बराबर ही थी-प्रत्यक दशा मे वह केवल श्रमिक के "ह्रास और अवक्षयण" (wear and tear) की पूर्ति ही कर सकती थी । वास्तव मे कुछ लेखको ने एडम स्मिथ के विचार का अनुगमन किया कि 'यद्यपि स्वतत्र सेवक के ह्रास एव अवक्षयण की पूर्ति समान रूप से उसके स्वामी के व्यय पर होती है, अपितु यह एक दास पर होने वाले उसके व्यय से कम होगी", क्योंकि एक स्वतत्र श्रमिक अपने भोजन की व्यवस्था मे उस निरीक्षक से कहीं अधिक मितव्ययी एव अल्पव्ययी होगा जो दासों के भोजन प्रबन्ध के लिये नियुक्त होता है । साथ ही स्वतत्र श्रमिक का श्रम कदाचित अधिक कुशल एव उत्पादक होगा । इसका तात्पर्य यह हुआ कि आवश्यकताओ के मूल्य मे कुछ वृद्धि या कमी होने पर नकद मजदूरी मे भी निश्चय ही शीघ्र वृद्धि या कमी होगी और मजदूरी पर कर लागू करने पर मजदूरी मे भी उसी अनुपात मे वृद्धि हो जायगी और इस प्रकार का बोझ नियोक्ता पर आ पडेगा ।

---

1 मार्शल का सिद्धात भी कम कठोर था, और अनेक अन्य अर्थशास्त्रियों के सिद्धान्तो की अपेक्षा इसमें श्रमिक सघों के कार्य के लिए अधिक क्षेत्र छोडा गया था ।

4. **आदत एव प्रथा का प्रभाव**—किन्तु निर्वाह-सिद्धान्त के समर्थको की स्वय एक ऐसी मान्यता थी जिसने उनके इस सिद्धान्त को मजदूरी की पूर्ण व्याख्या के रूप मे क्षति पहुचाई। उदाहरण के लिए, रिकार्डो की यह मान्यता थी कि श्रमिको के आहार की 'आवश्यकताओ' का निर्धारण करने मे आदतो एव प्रथाओ से सहायता मिलती है। निर्वाह स्तर, जिसके अनुरूप ढल जाने की प्रवृत्ति मजदूरी मे पाई जाती है, केवल नितान्त शारीरिक आवश्यकताओ को ही सम्मिलित नहीं करता, बल्कि आरामदायक आवश्यकताओ का भी इसमे किंचित समावेश होता है। इसका कारण स्पष्टत उल्लिखित न होते हुए भी प्रकट रूप मे दुहरा होता है। एक बार मदिरा एव तम्बाकू जैसे कुछ छोटे-मोटे सुखो के अभ्यस्त हो जाने के पश्चात् श्रमिक की मजदूरी मे कमी होने पर वह इन आरामो या सुखो की अपेक्षा कुछ शारीरिक आवश्यकताओ को ही तिलाजलि देने के लिए विवश होगा। दूसरे शब्दो मे, स्वभाव इन सुखो अथवा आरामो को परम्परागत अनिवार्यताओ (Conventional necessities) मे परिणित कर देता है। यही नही, अपने विवाह के उपयुक्त समय अथवा अपने परिवार के उपयुक्त आकार के विषय मे निर्णय करते समय, श्रमिक जब आर्थिक परिकलन करता है, तो उसके इस निर्णय के पीछे भी उसके द्वारा आवश्यक समझा जाने वाला जीवन स्तर ही सर्वोपरि होता है।

यदि स्वभाव एव आदत जैसी परिवर्तनीय मात्रा को महत्वपूर्ण मान लिया जाय तो इसमे सिद्धान्त की पूर्णता मे काफी कमी हो जाती है। इसका अर्थ यह हुआ कि आदत एव प्रथा को स्वीकार करने के बाद और निर्वाह-स्तर मे कुछ परम्परागत आवश्यकताओ को सम्मिलित करने के पश्चात् ही निर्वाह सिद्धान्त अपने निरपेक्ष रूप मे लागू समझा जाता था। किन्तु आदतो को परिवर्तनशील मानते हुए इस सिद्धान्त को समय की उस सीमित अवधि मे ही लागू माना जा सकता था जिसमे आदतें एव प्रथाए अपरिवर्तित रहती है तथा ऐसी लम्बी अवधि के लिए इसमे दीर्घकालीन पूर्वानुमान लगाना सम्भव नही था। इसके अतिरिक्त, मजदूरी मे परिवर्तन स्वय आदतो मे परिवर्तन का कारण हो सकता है, क्योकि नवीन मजदूरी का स्तर श्रमिक को नवीन जीवन-स्तर का अभ्यस्त बनाता है। ऐसी दशा मे कारणो का प्रभाव विपरीत होगा और बजाय इसके कि श्रम की पूर्ति मे निश्चित परिवर्तनो के द्वारा मजदूरी निर्वाह स्तर के बराबर हो जाय, श्रम की पूर्ति की दशाओ पर स्वय मजदूर के स्तर की प्रतिक्रिया हो सकती है, तथा मजदूरी मे वृद्धि उन दशाओ मे ही परिवर्तन उत्पन्न कर दे जो इसे बनाये रखने मे सहायक रही हैं।

यह स्पष्ट प्रतीत होता है कि रिकार्डो ने इस शर्त (qualification) को अधिक महत्व नही दिया, क्योकि उसके विचार से सामान्यत आदत का प्रभाव अल्पकाल (अधिक से अधिक दस या बीस वर्ष) तक ही सीमित था और उसका

मत था कि जनसंख्या का नियम—जिसकी प्रवृत्ति सदैव निर्वाह-बिन्दु तक बढ़ने की होती है—दीर्घकाल में अपना प्रभाव दिखलाने में पर्याप्त रूप से इतना सशक्त होता है कि आदतों में इस बीच हुए परिवर्तनों के प्रभाव को यह दबा देता है। यह सम्भव है कि कुछ समय तक मजदूरी के स्तर में वृद्धि की प्रवृत्ति दृष्टिगोचर हो (ठीक उसी प्रकार जैसे कि यह किसी दूसरे समय में कुछ काल तक निर्वाह-स्तर में भी नीचे रहे)। किन्तु ऐसा तभी होगा जब आर्थिक प्रगति की गति तीव्र हो, जब पूंजी निरन्तर संचित हो रही हो और उद्योग का विस्तार हो रहा हो और इन सबके फलस्वरूप पूर्ति की तुलना में श्रम की माग अधिक तेजी से बढ़ रही हो। मजदूरी में वृद्धि के साथ-साथ श्रमिक वर्ग में नवीन आदतों का निर्माण होता है, जिससे उनके जीवन स्तर में नवीन सुखों या आरामों का समावेश हो जाता है और ऐसे समय में "श्रमिक समृद्ध एवं सुखी होता है (और) उसके हाथों में जीवन की आवश्यकताओं एवं सुखों के अधिक अनुपात को जुटाने की शक्ति आ जाती है, और इसलिए वह स्वस्थ एवं भरे पूरे परिवार का पालन पोषण कर सकता है।" किन्तु मानव प्रजननशीलता का अपरिवर्तनीय दबाव इस सुधार की गति से भी तीव्र होता है तथा आर्थिक प्रगति में शिथिलता के साथ ही मजदूरी में वृद्धि के लिए उपयुक्त दशायें समाप्त होने लगती हैं श्रम की पूर्ति एवं माग बराबर होने लगती हैं तथा एक बार मजदूरी के स्तर में पुनः गिरावट शुरू होने पर आदतों में गिरावट की दिशा में उसी शीघ्रता से संशोधन होने लगता है जिस शीघ्रता से पहले उनमें वृद्धि की दिशा में संशोधन हुआ था।

यह पूर्ण रूप से स्पष्ट नहीं है कि क्या रिकार्डो का यह मत था कि निरन्तर आर्थिक प्रगति होते हुए भी जनसंख्या का नियम इस प्रकार का पुनरावर्तन उत्पन्न करने में सामान्यतः पर्याप्त था, अथवा कि वह निर्वाह-सिद्धान्त को एक ऐसा 'स्थिर' सिद्धान्त मानता था जिसमें उस सतुलन-स्तर की परिकल्पना की गई हो जहा पर प्रगति के रुक जाने पर परिवर्तन की एक अवधि के बाद मजदूरी वापस आ जायगी। जबकि उसका यह कथन कि "विकासशील समाज में (मजदूरी की), बाजार-दर अनिश्चित काल तक निरन्तर निर्वाह-स्तर से ऊपर होगी," दूसरे विचार की पुष्टि करता है, किन्तु उसके द्वारा इस तथ्य पर कि एक घनी आबादी वाले देश में निर्वाह की लागत में स्वयं बढ़ने की प्रवृत्ति होती है, अधिक बल दिये जाने से प्रथम विचार की पुष्टि होती है। यह अन्तर उस अन्तर के समान है जो वाद्य के साथ कुर्सियों (musical chairs) के खेल में मशीन चालू रहने पर और संगीत बन्द हो जाने पर खिलाड़ियों की स्थितियों से होता है। यथार्थ जगत् में मशीन कभी समाप्त नहीं होता (परिवर्तन निरन्तर होता रहता है) और यदि रिकार्डो का अभिप्राय इस सिद्धान्त के द्वितीय अर्थ से था तो सतत परिवर्तनशील जगत् की समस्याओं के लिए इस सिद्धांत का स्पष्टतः सीमित प्रयोग ही किया जा

सकता है। फिर भी इसका परिणाम यह है कि श्रमिक-वर्ग के उत्थान की केवल मात्र आशा पूंजी निर्माण और औद्योगिक प्रगति की गति को बनाये रखने तथा श्रमिकों की जनसंख्या में वृद्धि की दर को सीमित बनाये रखने में ही निहित है। शताब्दी के अन्त में रिकार्डो की अपेक्षा अन्य अर्थशास्त्रियों (उदाहरण के लिए सीनियर एव जे एस मिल) का झुकाव परिवर्तनशील प्रथाओ के प्रभाव पर अधिक जोर देने की ओर था और ऐसा करते समय उन्होने 'लौह नियम'' जैसे सुदृढ नियम का परित्याग करके उसके स्थान पर पूर्ति एव माग की मिली जुली व्याख्या को प्रस्थापित किया था।

5. मार्क्स तथा सामूहिक सौदाकारी की शक्ति—मार्क्स ने विशेष रूप से आदत एव प्रथा के प्रभाव पर अधिक बल दिया और उसके द्वारा इस प्रभाव पर दिये गये जोर के कारण इस सिद्धात मे व्यावहारिक परिणामो की दृष्टि से नवीनता का तत्व आ गया। जहा तक पूजीवाद के अन्तर्गत श्रम शक्ति को एक वस्तु मानने और उसकी पूर्ति एव कीमत किसी भी अन्य वस्तु की भाति निर्धारित होने का प्रश्न है, मार्क्स ने यह विचार करते समय, कि श्रम-शक्ति का बाजार मूल्य अधिक समय तक निर्वाह के उस मूल्य से भिन्न नही हो सकता जो उस श्रम शक्ति के भरण-पोषण के लिए आवश्यक है, रिकार्डो का ही समर्थन किया। इसके साथ ही श्रम-शक्ति अन्य वस्तुओ से इस रूप मे भिन्न है कि इसका सम्बन्ध मानव से है और परिणामस्वरूप इसकी पूर्ति विशिष्ठ अर्थ मे एक ऐसे "ऐतिहासिक अथवा सामाजिक तत्व" द्वारा निर्देशित होती है जो जीविका के लिए मानव श्रमिको की आवश्यकता को निर्धारित करता है। उसका यह कथन है कि *"श्रम के मूल्य का निर्माण दो तत्वो द्वारा होता है जिनमे से एक केवल भौतिक है तथा दूसरा ऐतिहासिक अथवा* सामाजिक। इसकी **अन्तिम सीमा** भौतिक तत्व द्वारा निर्धारित होती है, अर्थात् अपना पोषण एव सृजन करने के लिए, इसके भौतिक अस्तित्व को शाश्वत बनाने के लिए, श्रमिक-वर्ग को वे आवश्यकताए अवश्य प्रदान की जानी चाहिए जो उनके निर्वाह एव उनकी वश-वृद्धि के लिए नितान्त अपरिहार्य हैं, इस भौतिक तत्व के अतिरिक्त श्रम का मूल्य प्रत्येक देश मे **परम्परागत जीवन स्तर** द्वारा निर्धारित होता है।" यह दूसरा प्रभाव ही विभिन्न देशो, विभिन्न कालो और यहा तक कि एक ही देश के विभिन्न जिलों मे मजदूरी की भिन्नता की व्याख्या करता है। अत जब श्रम सघ सम्मिलित कार्यवाही के द्वारा मजदूरी मे वृद्धि करवाने का प्रयास करते थे, तो दीर्घकाल मे अपना प्रभाव प्रदर्शित करने वाले "लौह नियम" के विरुद्ध उनका सघर्ष निरर्थक नही होता था। इसके विपरीत, उनकी कार्यवाही स्वय "सामाजिक तत्व" का ही एक अग थी और उनके द्वारा प्राप्त किया गया लाभ भविष्य मे 'परम्परागत जीवन स्तर" को ढालने मे सहायक होता था। "यह मामला सघर्षरत दोनो पक्षो की आपसी शक्तियो के प्रश्न मे परिवर्तित

हो जाता है।"[1]

किन्तु जबकि मार्क्स ने सौदाकारी शक्ति के प्रभाव पर जोर दिया है तथा उसके विचारों को सौदाकारी सिद्धान्तों अथवा मजदूरी के "सबल" सिद्धान्तों ('force' Theories) के वर्ग में श्रेणीबद्ध किया गया है, फिर भी इस विषय को पूर्णतः अनिर्धारित एवं अननुमेय (unpredictable) मानते समय वह रिकार्डो के मत से अधिक भिन्न नहीं था। उदाहरण के लिए, वह यह नहीं मानता था कि जब तक पूंजीवादी मजदूरी प्रणाली का अस्तित्व कायम है, श्रम-संघों की कार्यवाही में अनिश्चित सीमा तक मजदूरी में वृद्धि तथा लाभों में कमी करवाना सम्भव हो सकेगा। वर्ग संघर्ष के 'सामाजिक कारक" के द्वारा इसके प्रभाव को बलपूर्वक रोके जाने के बावजूद भी प्राचीन सिद्धांत (classical law) का अधिकांश प्रभुत्व बना रहा। किन्तु रिकार्डो के विपरीत मार्क्स ने माल्थस का जनसंख्या-सिद्धांत स्वीकार नहीं था और वस्तुतः उसने इसका स्पष्ट रूप से खण्डन किया था। अतः इसका स्थान श्रम की पूर्ति का निर्धारित करने वाले किसी अन्य सिद्धांत द्वारा लिया जाना आवश्यक था। 'औद्योगिक आरक्षण सेना" (Industrial Reserve Army) नामक उसके सिद्धांत ने इसकी पूर्ति की। उसके द्वारा इस सिद्धान्त का जो वैकल्पिक नाम दिया गया वह था "सापेक्ष जनाधिक्य" का नियम। इसके अनुसार पूंजीवादी मजदूरी प्रणाली की प्रमुख विशेषता के द्वारा रोजगारों के स्थानों के लिए प्रतियोगिता करने वाले श्रम की पूर्ति की तुलना में उसकी माग सदैव अधिक रहने की प्रवृत्ति होती है तथा यह विशेषता अनेक प्रकार से मजदूरी के स्तर की वृद्धि को नियन्त्रित करने की इसकी विशेष शक्ति में निहित है।[2] मानव-शक्ति के स्थान पर यान्त्रिक शक्ति का प्रतिस्थापन एवं समय समय पर घटित होने वाले आर्थिक संकट, ऐसे कारण रहे हैं जो इसके फलस्वरूप उत्पन्न होने वाली बेरोजगारी के द्वारा तथा सस्ते श्रम की प्रचुरता वाले बाहरी देशों में पूंजी के निर्यात की प्रवृत्ति के द्वारा मजदूरी के स्तर पर दबाव डालते रहे हैं।

6. मजदूरी कोष सिद्धांत (The Wages-Fund Doctrine).—निर्वाह-सिद्धांत के बारे में रिकार्डो की इस मान्यता ने कि किसी विकासशील समाज में अनिश्चित काल तक निर्वाह-स्तर से ऊपर मजदूरी में वृद्धि हो सकती है, माग पर अधिक जोर दिये जाने के दृष्टिकोण को प्रोत्साहित किया। वह सिद्धान्त जिसके द्वारा यह जोर दिया गया मजदूरी-कोष सिद्धांत के नाम से प्रसिद्ध हुआ; और

---

1 Value, Price and Profit, सम्पादक : एलीनर एवलिंग, पृष्ठ 85 व आगे।

2 प्रचलित आर्थिक प्रणाली के अन्तर्गत इसके कारण के महत्वपूर्ण अंश के रूप में यह प्रवृत्ति मानी जा सकती है जिसमें ध्यान पूंजी के प्रतिफल की दर (ब्याज की दर या लाभ की दर) पर केन्द्रित किया जाता है और प्रणाली में पाई जाने वाली अनम्यताओं या कठोरताओं के अस्तित्व पर किया जाता है जो इस दर को गिराने वाली प्रवृत्तियों का प्रतिरोध करती है।

यद्यपि यह केवल अभिव्यक्ति की प्रबलता मे हेरफेर का ही प्रतिनिधित्व करता था, किन्तु फिर भी इसके समर्थक इसे रिकार्डो के विचारो का विकल्प न मानकर इसके विचारो का विस्तार ही मानते थे। यह वह समय था जबकि पूजी सामान्यत श्रमिको को "मजदूरी के रूप मे दी जाने वाली अग्रिम धनराशियो" का ही पर्यायवाची मानी जाती थी—अर्थात् वे राशिया जो वस्तुओ के उत्पादन एव विक्रय से पूर्व ही श्रम-शक्ति की खरीद के लिए मजदूरी के रूप मे अग्रिम रूप म व्यवस्थित की जाती थी। अतः श्रम की माग को विद्यमान पूजी की मात्रा की देन के रूप मे माना जाना स्वाभाविक ही था—कम से कम ऐसी देन के रूप मे जो पूजी के सग्रह की मात्रा के अनुसार प्रत्यक्षतः अधिक या कम होती थी। अतः मजदूरी-स्तर को एक सरल विभाजन के द्वारा ज्ञात किया जा सकता था : पूंजीपतियो के द्वारा अग्रिम मजदूरी के रूप मे प्रस्तुत पूजी की मात्रा (मजदूरी-कोष) मे रोजगार की इच्छुक मजदूरी पर जीवनयापन करने वाली जनसख्या का भाग देकर। जॉन स्टुअर्ट मिल के अनुसार : "प्रतियोगिता के नियम के अन्तर्गत मजदूरी, पूंजी और जनसख्या की सापेक्ष मात्रा के अतिरिक्त अन्य किसी बात से प्रभावित नही हो सकती।"

अतः यह सिद्धात पुराने दृष्टिकोण की कट्टरता से आशिक रूप मे पीछे की ओर था। कदाचित यह कहा जा सकता है कि इसके द्वारा एक निर्धारक दीर्घकालीन अथवा "स्थिर" सिद्धात को प्रस्तुत करने का प्रयास छोड दिया गया और इसके स्थान पर परिवर्तनशील जगत् मे मजदूरी मे होने वाले परिवर्तनो की व्याख्या करने का प्रयत्न किया गया। अब श्रम-शक्ति के उत्पादन की लागत द्वारा परिभाषित एक ही सतुलन स्तर जैसी कोई चीज नही थी जिस पर मजदूरी अनिवार्यतः आ सके : बल्कि इसके स्थान पर जनसख्या की तुलना मे पूंजी के परिवर्तनशील अनुपात द्वारा परिभाषित परिवर्तनशील "स्वाभाविक दर" की प्रधानता थी। यह सही है कि इस सिद्धात के समर्थको का माल्थस के जनसख्या–सिद्धात मे विश्वास था : किन्तु सामान्यतः (यद्यपि अपरिहार्य रूप से नही) मजदूरी पर इसके प्रबल प्रभाव के विषय मे वे इतने हठधर्मी नही थे। यदि जनसख्या की वृद्धि को किसी प्रकार से रोका जा सके तथा उसकी वृद्धि की दर को पूंजी-सचय की दर से कम किया जा सके, तो मजदूरी के स्तर में वृद्धि हो सकती है। किन्तु वस्तुतः ऐसा हो सकता है, इसके विषय मे वे अधिक आश्वस्त तो नही थे,[1] फिर भी यह एक ऐसी सम्भावना थी जिससे इन्कार करने के लिए भी वे तत्पर नही थे।

फिर भी यह सिद्धात अपने ही कठोर तरीके से पर्याप्त रूप मे अनम्य था। इसका प्रयोग मुख्यतः उस अटल उपसिद्धांत (Corollary) को सिद्ध करने के लिए

1. उदाहरण के लिए, जे० एस० मिल ने अपने ग्रंथ (Principles) में इस बात पर सन्देह प्रगट किया है कि अन्न-अधिनियमों (Corn Laws) को समाप्त कर देने से क्या वस्तुतः मजदूर-वर्ग को कोई लाभ प्राप्त हो सकेगा (सातवा संस्करण, खण्ड I, 425)

किया गया था जिसके अनुसार सौदाकारी शक्ति अथवा श्रमसघ–कार्यवाही मजदूरी के स्तर को कुल मिलाकर बदल सकने मे असमर्थ थी और जो उपाय पूजा के सचय मे बाधक थे (जैसे निर्धनो की सहायतार्थ धनिको पर करारोपण) उनमे मजदूरी–कोष मे कमी होकर मजदूरी मे गिरावट आना अवश्यम्भावी था। श्रमिको के सुधार की एकमात्र आशा उनके परिवारो के आकार को सीमित रखने और उनके मालिको की समृद्धि मे वृद्धि को प्रोत्साहित करने मे ही निहित थी। विक्टोरिया काल की अधिकाश अवधि मे अर्थशास्त्रियो ने श्रमिको एव श्रम-सघो के नेताओ को उनके तरीको की नितान्त मूर्खता दर्शाने के लिए यही सलाह दी थी। श्रम-सघ की कार्यवाही अथवा वैधानिक कार्यवाही के द्वारा श्रमिको के किसी दल द्वारा मजदूरी मे वृद्धि प्राप्त कर लेने पर यह माना जाता था कि इससे अन्य श्रमिको के लिए उपलब्ध मजदूरी-कोष मे कमी हो जायगी और फलस्वरूप अन्य श्रमिक या तो कम मजदूरी प्राप्त करेंगे अथवा बेरोजगार हो जायेंगे। इसके विपरीत यदि श्रमिको के किसी दल को असामान्य रूप से कम मजदूरी स्वीकार करने के लिए बाध्य किया जाता तो इससे श्रमिक वर्ग को कुल मिलाकर वस्तुत कोई हानि नहीं होती थी। क्योकि यह श्रमिको के अन्य दलो को अधिक मजदूरी–कोष उपलब्ध करवाने मे सहायक ही होता था। पूजी के सचय मे बाधक अथवा श्रमिको की उनकी सख्या अधिक तेजी से बढाने के लिये प्रोत्साहन न देने वाले श्रमसघो द्वारा या राज्य द्वारा उठाये गये कदमों का प्रभाव सभवत प्रतिकूल ही होता था। अपने प्रसिद्ध एव लोकप्रिय ग्रन्थ मे श्रीमती मारसट ने श्रीमती 'ब' के माध्यम से अपनी शिष्या 'केरोलिन' को इस प्रकार समझाया है "(मजदूरी की दर) उस अनुपात पर निर्भर होती है जो पूजी व देश की जनसख्या के सर्वहारा-वर्ग के बीच पाया जाता है। यदि मजदूरी को स्वय अपना मार्ग प्रशस्त करने के लिए खुली छूट दे दी जाय तो इसकी दर को नियमित करने वाला यही एक मात्र तत्व होता है। श्रम की माग का जनक एव सहारक भी केवल मात्र यही एक कारण है यदि श्रमिको की सख्या स्थिर रहती है तो पूजी मे वृद्धि के साथ मजदूरी की दर बढ जायगी तथा कमी होने पर घट जायगी। यदि पूजी की मात्रा स्थिर रहती है, तो श्रमिको की सख्या मे वृद्धि होने पर मजदूरी की दर मे कमी और कमी होने पर वृद्धि हो जायगी, अथवा गणितज्ञो के शब्दो मे मजदूरी की दरो का पूजी की मात्रा से प्रत्यक्ष सम्बन्ध और श्रमिकों की सख्या से विपरीत सम्बन्ध होता है जहा पूजी है वहा निधनो को सदैव रोजगार प्राप्त होगा, (और) इस प्रकार श्रम की माग पूजी की मात्रा के अनुपात मे निर्धारित होगी।"[1] इसका निष्कर्ष यह हुआ कि यदि धनिको पर कर लगा दिये जाय अथवा उनकी सम्पन्नता को किसी प्रकार की क्षति पहुँचाई जाय तो उसी अनुपात मे कम पूजी रोजगार प्रदान करने

1. Conversations on Political Economy, Pp 109, 117-18, 130.

के लिए उपलब्ध होगी। "निर्धनों के लिए इस व्यवस्था का (निर्धन कानून सहायता के द्वारा) सबसे बुरा परिणाम यह है कि यह श्रम के मूल्य में कमी कर देती है, अतः पूंजीपति द्वारा निर्धन-दरों (Poor-rates) के रूप में अनिवार्यतः चुकाई जाने वाली राशि के द्वारा उसके श्रमिकों की मजदूरी में निश्चय ही कमी हो जाती है क्योंकि इस कर के न होने की दशा में उसकी पूंजी श्रम की मांग से उसी अनुपात में बढ़ जायगी और फलस्वरूप उसका पारितोषिक अधिक होगा।"[1] दान अथवा कृपा, चाहे वे सार्वजनिक हों अथवा निजी, अर्थशास्त्र के इस कठोर नियम को बदलने में असहाय है।

जहां तक आवश्यक समझे जाने वाले स्तर को प्रभावित करने और इस प्रकार श्रम की पूर्ति पर प्रभाव डालने में आदत एवं प्रथा में होने वाले परिवर्तनों का प्रश्न है, निर्वाह-सिद्धान्त की भांति मजदूरी-कोष सिद्धान्त (कम से कम उन उप-सिद्धान्तों की जिनका यह समर्थक था) की भी यह एक महत्वपूर्ण मर्यादा थी। यदि प्रथा का प्रभाव महत्वपूर्ण था तो श्रम की पूर्ति को बदलने का और इस प्रकार श्रम-शक्ति के "स्वाभाविक मूल्य" को परिवर्तित करने का एक तरीका मजदूरी में वृद्धि करना था, और इस उद्देश्य के लिए श्रम-संघों के द्वारा किया गया "हस्तक्षेप" स्थायी वृद्धि में सहायक परिस्थितियों को ही उत्पन्न कर सकता था। किन्तु जब तक माल्थस का सिद्धान्त हावी रहा, लोग यह विश्वास करने के लिए तैयार नहीं थे कि निर्वाह-स्तर में कोई अतिरिक्त कमी किसी भी जन्म एवं अतिरिक्त व्यक्ति के जिन्दा रहने को प्रोत्साहित करने में विफल होगी और इसलिए उन्होंने प्रथा को जनसंख्या-वृद्धि को निर्देशित करने वाले नैसर्गिक विधान पर विलम्बकारी प्रभाव डालने से अधिक और कुछ नहीं समझा। उन्नीसवीं शताब्दी के अन्त तक यह अनुभव नहीं किया जाता था कि उच्च जीवन स्तर वाले लोगों में जन्म दर अपेक्षाकृत अधिक होने के बजाय कम होती है।[2] अतः कम निर्धनता के फलस्वरूप अपेक्षाकृत कम वाल मृत्यु-दर को ध्यान में रखते हुए भी जीवन स्तर में वृद्धि के द्वारा जनसंख्या-वृद्धि की दर में वस्तुतः कमी हो सकती है। इसलिए श्रम की पूर्ति पर मजदूरी की वृद्धि की प्रतिक्रिया माल्थस की मान्यता से विपरीत दिशा में हो सकती है।

ऊंची मजदूरी की मितव्ययिता के सिद्धान्त ने, जिसका उल्लेख पिछले अध्याय में किया जा चुका है, इस सिद्धान्त को एक अन्य महत्वपूर्ण मर्यादा प्रदान की, क्योंकि इसने यह प्रदर्शित किया कि श्रम की उत्पादकता बहुत हद तक मजदूरी

1. वही, पृ० 164
2. केवल नसाऊ सीनियर ही इस कथन से सहमत नहीं था। उसने काफी पहले ही इसे मजदूरी के स्तर में निरन्तर वृद्धि के लिए एक कारण के रूप में प्रस्तुत किया था।

के स्तर के द्वारा निर्धारित होती है और यदि मजदूरी में की गई वृद्धि श्रम की कार्य कुशलता में भी वृद्धि करने में सफल न हो सके तो इससे नियोक्ताओं द्वारा उस श्रम की माग में भी वृद्धि होगी तथा इसमें श्रम की खरीद के लिए अधिक कोष की व्यवस्था करने में भी उन्हें प्रेरणा मिलेगी। अत मजदूरी की वृद्धि की प्रतिक्रिया केवल श्रम की पूर्ति की दशाओं पर ही नहीं होती, अपितु मजदूरी कोष के आकार पर भी इसकी प्रतिक्रिया होती है और इस प्रकार यह श्रम की माग को मजदूरी कोष-सिद्धान्त के समर्थकों द्वारा मान्य दिशा के विपरीत मोड देती है। शताब्दी के अन्त में इस मान्यता में और पूजी की प्रकृति के बारे में बदल हुए विचारों से प्रभावित अर्थशास्त्रियों ने श्रम को रोजगार देने में प्रयोग की जाने वाली पूजी के लिए (मार्शल के शब्दों में) 'कोष (Fund) के बजाय प्रवाह (Flow)' शब्द का प्रयोग करना शुरू कर दिया। एक ऐसे स्थिर कोष के बजाय, जिसमें उद्योग के अतिरिक्त-उत्पादन में वृद्धि तथा इस अतिरिक्त से सचित पूजी के द्वारा धीरे धीरे ही वृद्धि की जा सकती थी, सचलन पूजी (circulating capital) को एक ऐसी शीघ्र परिवर्तनशील मात्रा के रूप में स्वीकार किया गया जिसकी कमी या वृद्धि इस बात पर आधारित थी कि विनियोक्ता वर्ग इस वर्तमान सन्तुष्टि पर व्यय करने की अपेक्षा भावी लाभ के लिए विनियोजित करना कहा तक अधिक आवश्यक समझते थे। व्यय एव विनियोजन रूपी दो धाराओं के मध्य आय के प्रवाह में उस समय शीघ्र परिवर्तन हो सकता है जबकि दोनों मार्गों में सापेक्ष स्तर में इस प्रकार परिवर्तन हो जाय जो धाराओं के प्रति आकर्षण में ही परिवर्तन ला दे। अस्थायी रूप में कदाचित कुछ माह अथवा वर्षों के लिए यह सही हो सकता है कि वह उपलब्ध वास्तविक कोष, जिसमें से मजदूरी का भुगतान होता है उपलब्ध खाद्य सामग्री की मात्रा कुछ समय तक अत्यन्त सीमित होने के कारण स्थिर रहे। इसी कारण प्राय यह तर्क दिया जाता था कि श्रमिकों को मजदूरी के रूप में अधिक मुद्रा प्रदान किये जाने के बावजूद भी उपलब्ध आवश्यकताओं की पूर्ति में इससे कोई वृद्धि नही होगी और ऊची नकद मजदूरी के व्यय का परिणाम केवल यह होगा कि आवश्यकताओं के मूल्यों में वृद्धि हो जायगी। किन्तु सन् 1865 में मजदूरी कोष सिद्धान्त के किसी समर्थक को उत्तर देते समय जैसा मार्क्स ने व्यक्त किया कि यह अवस्था केवल अल्पकाल तक ही लागू होती है। कुछ समय बाद आवश्यकताओं के लिए बढ़ी हुई माग उनकी परिवर्तित पूर्ति में वृद्धि का कारण बनेगी और इसका प्रतिकूल प्रभाव उन विलासिताओं के उत्पादन पर पड़ेगा जो इससे पूर्व धनिकों द्वारा खरीदी जाती थी 'पूजी एव श्रम का हस्तान्तरण कम लाभदायक शाखाओं से अधिक लाभदायक शाखाओं में हो जायगा और हस्तान्तरण की यह प्रक्रिया उस समय तक निरन्तर चालू रहेगी जब तक कि उद्योग की एक शाखा में बढ़ी हुई माग के साथ-साथ पूर्ति भी उसी

अनुपात मे न बढ जाय और दूसरी शाखा मे घटी हुई माग के अनुसार उसमे कमी न आ जाय।"

7 *सीमान्त उत्पादकता का सिद्धान्त* —इन मर्यादाओ के महत्व के अनुभव ने उन्नीसवी शताब्दी के अन्त मे अर्थशास्त्रियो को मजदूरी-कोष सिद्धान्त का बहुत कुछ परित्याग करने के लिए और एक अपेक्षाकृत कम कठोर किस्म के माग सिद्धान्त पर ध्यान केन्द्रित करने के लिये बाध्य कर दिया। मार्शल सहित कुछ अर्थशास्त्रियो को इस नवीन विचार की प्रबलता मे जो महत्वपूर्ण परिवर्तन दृष्टिगोचर हुआ वह इस दिशा मे था कि श्रम की माग, विनियोजित की जाने वाली धनराशि के विषय मे पूजीपतियो द्वारा लिये गये पूर्वनिर्धारित निर्णयो की अपेक्षा श्रम द्वारा उत्पादित माल के कारण होती है। मचलन पूजी को स्थिर कोष के बजाय परिवर्तनशील प्रवाह मानते हुए इसने यह जोर दिया कि श्रम की उत्पादकता (जो चाहे श्रम की कार्यकुशलता मे परिवर्तन के कारण हुई हो अथवा अन्य किसी कारण से) शीघ्रता से पूजी के प्रवाह को तेज कर देगी और इस प्रकार श्रम की माग को बढा देगी। किन्तु हमारे विचार से परम्परा से सम्बन्ध-विच्छेद पर, जिसका प्रतिनिधित्व यह दृष्टिकोण करता है, अत्यधिक जोर देना बुद्धिमत्तापूर्ण न होगा और अनेक अर्थशास्त्रियो ने सीमान्त उत्पादकता के सिद्धान्त मे पुरातन सिद्धान्त के अनेक मूलतत्व को उससे कही अधिक स्थान दिया है जितना कि इसकी नवीन विशेषताओ पर जोर दिये जाने का समर्थन करने वाले लोग महसूस करते रहे है। यह सही है कि अब यह माना जाने लगा है कि श्रम की माग का निर्धारण किसी स्थिर कोष के द्वारा न होकर श्रम की उत्पादकता मे होने वाले परिवर्तनो से शीघ्र ही प्रभावित होता है और इस माग तथा उत्पादकता के परिवर्तनो के बीच जो सम्बन्ध है उसकी परिभाषा ज्यादा सुनिश्चितता से की जाने लगी। किन्तु "ऊची मजदूरी की मितव्ययिता" की सत्यता पर पूर्ण विचार किये जाने के बावजूद भी पुराने सिद्धान्त के अनेक उपसिद्धान्त निर्बल होने की बजाय सबल हो गये—उदाहरण के लिये, यह कहा जाने लगा कि श्रम की माग के लोचपूर्ण होने पर "स्वाभाविक स्तर" से ऊपर मजदूरी को बढाने के उद्देश्य से किये गये हस्तक्षेप (*जब तक कि इसके साथ-साथ उत्पादकता मे भी वृद्धि न हुई हो*) का परिणाम इस अर्थ मे अधिक हानिकारक होगा कि इससे श्रम को रोजगार प्रदान करने मे सहायक पूजी अपरिवर्तित रहने के बजाय सकुचित हो जायगी।

इस नवीन सिद्धान्त के स्वरूप को निर्धारित करने मे सबसे अधिक योग पिछली सदी के अन्त मे पच्चीस वर्षो मे अर्थशास्त्रियो के उस बढते हुए स्वभाव से मिला जिसके अनुसार वे सीमा पर थोडी मात्रा मे (अथवा वृद्धियो) जोडे जाने या घटाये जाने की भाषा मे विचार करने लगे। अर्थशास्त्री उस समय किसी वस्तु के मूल्य की व्याख्या उपभोक्ताओ को प्राप्त होने वाली उस अतिरिक्त उपयोगिता

या सन्तुष्टि के रूप मे करने का प्रयत्न कर रहे थे जो उन्हें एक निर्धारित पूर्ति की अन्तिम अथवा सीमान्त इकाई से प्राप्त होती थी—अर्थात् गेहूँ की पूर्ति को X सौ बुशल मानते हुए प्रति बुशल मूल्य क्रेताओं मे से किसी न किसी को X सौवी बुशल से प्राप्त होने वाली उपयोगिता का माप करेगी। इससे यह निष्कर्ष निकाला जाने लगा कि मानव-श्रम के मूल्य की व्याख्या भी इसी प्रकार से इसके किसी क्रेता को प्राप्त होने वाली सीमान्त उपयोगिता के द्वारा की जा सकती है। किन्तु यदि श्रम घरेलू सेवाओं मे नियुक्त नही है तो वह उपभोक्ताओं की इच्छाओं की पूर्ति प्रत्यक्षत नही करता है—वह तो केवल माल का उत्पादन करके अप्रत्यक्ष रूप मे ही ऐसा करता है। अत श्रम की पूर्ति की एक दी हुई मात्रा की दशा मे यह माना गया कि इसके मूल्य का निर्धारण उस अतिरिक्त उत्पादन से होगा जो उस पूर्ति की सीमान्त इकाई के अतिरिक्त श्रम द्वारा उत्पादित किया गया है। नियोक्ता के लिए उसके द्वारा खरीदी गई श्रम-शक्ति का मूल्य उस माल मे निहित होता है जो उसके द्वारा उत्पादित किया जाता है। यह निर्णय करने के लिये कि दस अतिरिक्त श्रमिकों को काम पर लेकर उन्हे मजदूरी देने मे उसे कितना लाभ होगा, वह इस बात का हिसाब लगायेगा कि अतिरिक्त दस व्यक्तियों को काम प्रदान करने मे उसके कारखाने के कुल उत्पादन मे कितनी वृद्धि होगी। यह "शुद्ध उत्पादन" (उन्हे काम देने के कारण अतिरिक्त कच्चे माल के रूप के होने वाले आवश्यक आनुसगिक व्ययों को घटाकर) नियोक्ता के लिये उनकी उपयोगिता का प्रतिनिधित्व करता है तथा उनके लिये उसके माग-मूल्य को निर्देशित करता है—अर्थात् वह धनराशि जिसे अतिरिक्त मजदूरी के रूप म वह व्यय करने का इच्छुक था, अथवा उस सीमा का जहा तक अपनी सचलन पूजी के "प्रवाह" का विस्तार करना उसके लिए लाभदायक था। इसका अर्थ यह हुआ कि रोजगार के अभिलाषी श्रम की एक निर्धारित पूर्ति होने पर नियोक्ताओं द्वारा एक दूसरे के विरुद्ध श्रम के लिए प्रतियोगिता के कारण मजदूरी की राशि उस शुद्ध उत्पादन" के बराबर हो जायगी जो पूर्ति की सीमान्त इकाइयों को काम पर लगाने स कुल उत्पादन मे जुडेगा। यदि मजदूरी का स्तर इससे ऊपर जाता है तो श्रम की पूर्ति की सीमान्त इकाइया बेरोजगार हो जायेंगी, क्योंकि इन इकाइयों की "लागत" इनके 'मूल्य" से कही अधिक होगी। सयन्त्र एव उपकरण की एक निश्चित माना से कार्य करते हुये, अधिक श्रमिकों को काम पर लगाकर प्राप्त किया गया अतिरिक्त उत्पादन उसी अनुपात में कम होगा जिस अनुपात मे पहले काम पर लगे हुये श्रमिक अधिक थे। दूसरे शब्दों म, अतिरिक्त श्रम को काम पर लगाकर किसी निर्धारित सयत्र से अधिक उत्पादन प्राप्त करने का प्रयास (एक सीमा से परे) "ह्रासमान-प्रतिफल" क अधीन था। अत पूजी एव प्राकृतिक साधनों की एक निर्धारित मात्रा की दशा मे, किसी फर्म, उद्योग अथवा सपूर्ण देश द्वारा काम पर लगाये जाने वाले श्रम की

ऐसी मात्रा, जिसे काम देना उनके लिये लाभदायक होगा, की सदैव एक निश्चित सीमा होगी। यदि पूंजी (अथवा यो कहा जाय कि विनियोजको द्वारा उनकी पूंजी के लिये मागी जाने वाली प्रतिफल की दरें) एव प्राकृतिक साधनो की पूर्ति सीमित है और तकनीक का स्तर एव श्रम की उत्पादकता भी सीमित है तो मजदूरी का वह स्तर भी, जिस पर प्रत्येक व्यक्ति रोजगार प्राप्त कर सकता है, स्पष्टत निर्धारित होगा। यदि श्रम इससे अधिक मूल्य की माग करता है, तो इसका परिणाम निश्चय ही बेरोजगारी के रूप मे होगा।

अपने पूर्वकालीन सिद्धान्तो की अपेक्षा यह सिद्धान्त स्पष्टत अधिक सरल एव अधिक सुनिर्मित था तथा अनेक अर्थशास्त्रियो ने इसका स्वागत एक ऐसी खोज के रूप मे करना आरम्भ कर दिया जो केवल मजदूरी के लिये ही नही, अपितु सामान्यत आय के वितरण के लिये भी एक सम्पूर्ण तथा अन्तिम सिद्धान्त प्रस्तुत करती थी। इसके मूल समर्थको मे से प्रोफेसर जे. बी क्लार्क ने इसे मजदूरी के प्राकृतिक नियम के रूप मे घोषित किया जो प्रत्येक समय एव प्रत्येक स्थान म लागू होता है तथा जेवन्स ने अपनी भाषा मे गूढ अर्थ का तत्व देते हुये यह व्यक्त किया कि श्रमिक "अपने उत्पादन का उचित मूल्य" प्राप्त करता है। अनेक व्यक्तियो ने इसे अन्तिम समझा और यह कह कर सतोष कर लिया कि श्रम का पारिश्रमिक उसकी 'उत्पादकता" के साथ परिवर्तित होता है। इसका प्राय यह अर्थ निकाला गया अथवा यह माना जाने लगा कि मजदूरी का मापदण्ड श्रम द्वारा प्रदत्त सेवाओ से समाज को प्राप्त होने वाला मूल्य होता है तथा परिस्थितियो के किसी निश्चित समूह (सम्भवत परिवर्तनशील) के अन्तर्गत बाजार मे श्रम के प्रचलित मूल्य से कही अधिक मौलिक होता है। किन्तु "उत्पादकता", "सेवा" 'मूल्य" अस्पष्ट अथवा दोहरे अर्थ वाले शब्द है और विवेकशील मत इससे अवगत था कि *यह सिद्धान्त स्वय मे मजदूरी का कोई सपूर्ण सिद्धान्त नही था। इसकी अपूर्णता (जो माग पर आधारित अन्य सिद्धान्तो मे भी पाई जाती है) का एक कारण यह था कि इसमे ऐसा कुछ नही था जिससे कि कोई यह जान सके कि श्रम की पूर्ति किस* प्रकार निर्धारित होती—इसकी कल्पना एक निश्चित मात्रा के रूप मे करनी होती थी ताकि यह ज्ञात किया जा सके कि श्रम की विशुद्ध सीमान्त उत्पत्ति क्या थी। पूंजी की पूर्ति के निर्धारण के विषय मे भी इसमे अनेक बातो का उल्लेख नही था। इस सिद्धान्त मे यद्यपि उस रीति की सूक्ष्म परिभाषा दी गयी जो मजदूरी और उत्पादकता के बीच सम्बन्ध स्थापित करती थी, किन्तु उत्पादकता को निर्धारित करने वाले परस्पर प्रभावशील कारको की जटिलता का इससे कोई आभास नही मिलता था। जैसाकि मार्शल ने व्यक्त किया, "इस सिद्धान्त को कभी-कभी मजदूरी के सिद्धान्त के रूप मे प्रस्तुत किया गया है। किन्तु इस प्रकार की मान्यता के लिए कोई उचित आधार नही है। यह सिद्धान्त कि किसी श्रमिक की आय उसकी

विशुद्ध उत्पत्ति के बराबर होती है, स्वय मे कोई अर्थ नही रखता, क्योकि शुद्ध उत्पत्ति का अनुमान लगाने के लिए उसकी मजदूरी के अतिरिक्त उन सभी व्ययो को स्वीकार करना होता है जो उसके द्वारा उत्पादित किये जाने वाले माल के उत्पादन से सम्बद्ध होते हैं।[1]

यह ध्यान मे रखना सदैव महत्वपूर्ण है कि "श्रम की सीमान्त उत्पत्ति केवल श्रम की पूर्ति पर ही नही, बल्कि उत्पादन के अन्य सभी कारको की पूर्ति पर निर्भर होती है, और इतना कहे जाने के बाद यह सिद्धान्त अपनी ऊपरी सरलता और अपने अन्तिम रूप से बहुत कुछ वचित हो जाता है। यदि अन्य कारकों की प्रचुरता के बीच श्रम अपेक्षाकृत एक दुर्लभ कारक होता है तो श्रम की विशुद्ध सीमान्त उत्पत्ति ऊची होगी और श्रम के लिये प्रतियोगिता के कारण उसे ऊचा मूल्य प्राप्त करने मे सफलता प्राप्त हो जायगी। उदाहरणस्वरूप, अविकसित साधनो की दृष्टि से धनी लेकिन कम आबादी वाले एक नये देश मे नये बसने वाले लोग अपने शारीरिक श्रम के द्वारा पर्याप्त सम्पदा का उत्पादन कर सकते हैं, किन्तु प्राकृतिक साधनो का उपयोग अपेक्षाकृत अधिक पूर्ण होने और उस प्रदेश के आबाद हो जाने के बाद नये बसने वाले लोगो के लिए, जिन्हें पूजी की सहायता प्राप्त नही है उस भूमि से जीविका प्राप्त करना उतना सरल नही होगा और इसके फलस्वरूप श्रम सस्ता हो जायगा। इसके अतिरिक्त यदि पूजी दुर्लभ है और उसके लिए ऊची ब्याज दर की अपेक्षा है, तो यह एक ऐसा कारक होगा जो श्रम की सीमान्त विशुद्ध उत्पत्ति और मजदूरी के स्तर मे कमी कर देगा, विशेषकर ऐसी दशा मे जबकि नाममात्र की मजदूरी पर काम करने वाले लोगों की सख्या प्रचुर हो। इसके अतिरिक्त, औद्योगिक सगठन की कुशलता का भी श्रम की उत्पादकता पर उतना ही प्रभाव पडेगा जितना कि तकनीकी ज्ञान की विद्यमान दशा का, जो यह निर्णय करेगी कि मानव-श्रम-शक्ति कितनी अपरिहार्य है और कितनी नही, अर्थात् कितनी सरलता से इसके स्थान पर यात्रिक शक्ति प्रतिस्थापित की जा सकती है तथा कहा तक उपभोक्ताओ की माग को विभिन्न वस्तुओ मे विभक्त किया जा सकता है—ऐसी वस्तुयें जिनके उत्पादन मे श्रम की आवश्यकता अधिक अथवा ऐसी वस्तुयें जिनके उत्पादन मे श्रम की आवश्यकता कम होती है। श्रम की सीमान्त विशुद्ध उत्पत्ति इन सब पर तो निर्भर होगी ही बल्कि इसके साथ ही यह स्वय श्रम की अन्तर्निहित कुशलता पर भी निर्भर होगी तथा किसी भी अन्य वस्तु के मूल्य मे होने वाला परिवर्तन सम्भवत इसे भी प्रभावित करेगा।

---

1. Principles of Economics, 518 लेकिन मार्शल का यह कहना है कि यह आपत्ति "इस दावे के समक्ष सही नहीं है जिसमें यह बतलाया गया है कि यह सिद्धान्त मजदूरी को प्रभावित करने वाले कारणों में से एक कारण पर प्रकाश डालता है।" अपने प्रथम सस्करण में उसने कहा था कि इसमें मजदूरी के नियम का "एक अश, और केवल एक छोटा सा अश ही समाया हुआ है"।

8. मार्शल एव पूर्ति तथा माग —मार्शल ने, जो ऐसे आर्थिक जगत् की जटिलताओ के प्रति, जहा सभी वस्तुयें पारस्परिक अन्त क्रिया के अधीन होती हैं, अन्य अनेक अर्थशास्त्रियो की अपेक्षा अधिक जागरूक था, एक ऐसा मिला-जुला विचार प्रदान करने का प्रयास किया, जो श्रम की पूर्ति एव श्रम की माग दोनो को प्रभावित करने वाली शक्तियो से युक्त था। कुल मिलाकर अन्य परम्परागत सिद्धातो की अपेक्षा उसके द्वारा प्रतिपादित सिद्धान्त अधिक उदार था उदाहरणस्वरूप, इसमे श्रमिक सघो के द्वारा मजदूरी के विषय मे सामूहिक सौदाकारी के प्रभाव के लिए कुशलता के साथ-साथ श्रम के "पूर्ति-मूल्य" पर पडने वाले इसके प्रभाव के जरिए कुछ क्षेत्र छोडा गया था।

हम देख चुके है कि श्रम के लिये मालिको की माग अनेक बातो पर निर्भर होती है। एक मुख्य बात, जिस पर श्रम निर्भर करता है, पू जी की पूर्ति है—अर्थात् विद्यमान एव भावी व्यवसायो के द्वारा इसकी व्यवस्था कितनी प्रचुरता से एव मितव्ययितापूर्वक की जा सकती है। मार्शल का विचार था कि यह पूर्ति दीर्घकाल मे विनियोजको की उस योग्यता एव तत्परता द्वारा निर्धारित होती है, जो उन्हे तत्काल उपभोग से विरत करके बचत करने और इसका विनियोग करने के लिये प्रेरित करती है। यह सही है कि किसी एक समय मे उपलब्ध पू जी विनियोजको द्वारा भूतकाल मे किये गये कार्यों पर निर्भर एक निश्चित राशि होती है फिर भी यह एक ऐसा स्टॉक होता है जिसमे समय के साथ-साथ विनियोजको द्वारा जोडी गई नई बचत से वृद्धि अथवा उनके द्वारा चालू व्ययो मे की गई वृद्धि से कमी हो जाती है। यद्यपि पू जी का यह स्टॉक दीर्घकाल मे लोचपूर्ण होता है, फिर भी इसकी यह लोच कुछ सीमाओ के अन्दर ही रहती हैं। ये सीमायें धन को बचाकर भविष्य म आय प्राप्त करने के अथवा उसे तत्काल व्यय करने के विषय मे विनियोजको की अधिमान्यताओ द्वारा निर्धारित होती है। यह कहा जाता है (यद्यपि कुछ लोग इसका प्रतिवाद भी करते हैं) कि कृपणो को छोड कर अन्य अधिकाश व्यक्ति अपने 100 पौण्ड धन का तत्काल व्यय करना अधिक पसन्द करते है बजाय इसके कि वे एक वर्ष पश्चात् उसके बदले मे 101 पौण्ड पाने का वचन प्राप्त करे, और यहा तक कि यदि उन्हे एक वर्ष बाद 105 या 106 पौण्ड भी दिये जाने का वचन दिया जाय तो भी वे शायद ऐसा करने के लिये राजी नही होगे—भले ही ऐसा वचन कितना ही विश्वसनीय और सर्वथा सत्य हो। वर्तमान आनन्द के लिए इस अधिमान्यता को "समय-अधिमान्यता" (time preference) की सज्ञा दी गयी है अथवा उसे उनका "भविष्य के प्रति बट्टा" (discount of the future) कहा गया है और यह उस त्याग का प्रतिनिधित्व करती है जिसे मार्शल द्वारा 'प्रतीक्षा" अथवा बचत करने मे किये गये त्याग का प्रतीक माना गया है। बचत में निहित यह "लागत' उद्योग म पू जी के प्रवाह पर अवरोधक की भाँति कार्य करेगी और विनियोजको

की इस अनिच्छा को जीतने के लिये आवश्यक धनराशि के रूप मे व्यक्त किये जाने पर यह पूजी के "पूर्ति-मूल्य" का परिचायक होगी। बचत अथवा प्रतीक्षा की अनिच्छा को जीतने के लिए तथा उद्योग मे पूजी को आकर्षित करने के लिये आवश्यक यह 'पूर्ति-मूल्य" सामान्यत छोटी वार्षिक बचतो की अपेक्षा बडी वार्षिक बचतो की दशा मे अधिक होगा। वस्तुत नवीन पूजी की छोटी राशि के लिये यह बहुत ही कम होगा, क्योकि धनिक-वर्ग अपनी आय के उस एक भाग को जिसे व्यय करने का उनके पास अन्य कोई विकल्प नही था, बचाने के लिए विवश होंगे—भले ही उन्हे इसके विनियोजन से प्राप्त होने वाला लाभ कम हो अथवा शून्य हो। अत नवीन पूजी की विभिन्न मात्राओ (पूजी के स्टाक मे जोडी जाने वाली विभिन्न प्रकार की मात्रायें) के पूर्ति-मूल्यो को एक ऐसी अनुसूची के रूप मे व्यक्त किया जा सकता है जिसे मार्शल ने "पूर्ति-मूल्यो की अनुसूची" (schedule of *supply-prices*) अथवा *पूर्ति वक्र रेखा की सज्ञा दी*--*अर्थात्* एक ऐसी वक्ररेखा जो विभिन्न राशियो के विभिन्न पूर्ति-मूल्यो को परस्पर सम्बद्ध करती है।[1] यदि मजदूरी-कोष सिद्धान्त से इस सिद्धान्त का भेद किया जाय, तो यह कहा जायगा कि इस प्रकार की पूर्ति-अनुसूचि उन सीमाओ को परिभाषित करती है जिनके *अन्दर मजदूरी-कोष मे समय के साथ घट-बढ होगी,* किन्तु इतना होते हुए भी इस सिद्धान्त के अनुसार यह कोष लोचपूर्ण होता है और यह लाभ की उत्तम सम्भावनाओ के प्रभाव के अन्तर्गत विनियोजको की आय के एक बडे अनुपात को अपनी ओर आकर्षित करके वर्ष प्रतिवर्ष वृद्धि को प्राप्त होगा और लाभ की सम्भावनायें निराशाजनक होने पर यह सकुचित हो जायगा।

श्रम की पूर्ति के विषय मे मार्शल का यह स्पष्ट विचार था कि इस पर समरूप दशायें लागू होती हैं। यद्यपि वह किसी विशेष प्रकार के श्रम की पूर्ति से पृथक सामान्य श्रम की पूर्ति से सम्बन्धित अपने कथनो मे सतर्क था, फिर भी यह स्पष्ट प्रतीत होता है कि वह इसे कुछ सीमा तक लोचपूर्ण मानता था--अर्थात् उसका विचार था कि मजदूरी के स्तर मे परिवर्तन के फलस्वरूप यह परिवर्तित होता है, *हालाकि यह लोच उस लोच से कही कम होती है जिसकी कल्पना पुरातन* अर्थशास्त्रियो के द्वारा की गई थी। यह ऐसा है तो मजदूरी का स्तर उन दो प्रकार की शक्तियो मे निर्धारित होगा जिनमे से एक श्रम की माग की दशाओ की तथा दूसरी उसकी पूर्ति की दशाओ की परिभाषा करेगी, तथा प्रतियोगिता के

---

1. यह ध्यान देने योग्य है कि ठीक से परिभाषित करने पर ये विनियोग की दी हुई दरों के पूर्ति-मूल्य होते हैं। पूजी के विभिन्न स्टाकों के अनुरक्षण मूल्य (maintenance prices) भी हो सकते है, लेकिन सम्बधित अनुरक्षण मूल्य सामान्यत पूजी पर प्रचलित प्रतिफल से काफी कम होते हैं, और इस सीमा तक ये क्रियाशील नहीं होते हैं

अन्तर्गत मजदूरी मे यह दीर्घकालीन प्रवृत्ति होगी कि वे उस स्तर पर निर्धारित हो जिस पर उपलब्ध श्रम-पूर्ति की सीमान्त विशुद्ध उत्पत्ति उसके सीमान्त पूर्ति-मूल्य के बराबर हो जाय। फिर भी मजदूरी का सचालन न तो माग-मूल्य द्वारा होता है और न पूर्ति-मूल्य द्वारा ही, बल्कि उन समस्त कारणो द्वारा होता है जो माग एव पूर्ति का सचालन करते है।[1]

9. *श्रम की पूर्ति.*—यह पर्याप्त विवाद का विषय रहा है कि क्या उद्योग मे सामान्यत. श्रम की पूर्ति (किसी व्यवसाय या क्षेत्र विशेष मे होने वाली पूर्ति से पृथक) मजदूरी के स्तर मे होने वाले परिवर्तनो के साथ साथ प्रत्यक्ष रूप से परिवर्तित होती है। 'श्रम की पूर्ति" वाक्यांश वस्तुत अनेक अर्थों मे प्रयुक्त किया जा सकता है। प्रथम इसका प्रयोग रोजगार चाहने वाले श्रमिको की सख्या के लिए हो सकता है। यह केवल समस्त जनसख्या के साथ ही नही, बल्कि जनसख्या के उस अनुपात के साथ भी परिवर्तनीय होगा, जो सर्वहारा-वर्ग हो गया हो अथवा जो जीविका के अन्य विकल्पो से वंचित हो गया है और इसीलिए जिसे परिस्थितियों की विवशता द्वारा मजदूरी पर काम प्राप्त करने के उद्देश्य से श्रम बाजार में ढकेल दिया जाता है। द्वितीय, इसमे वे घण्टे सम्मिलित किये जा सकते है जितने घण्टो तक प्रत्येक श्रमिक काम करने के लिए राजी है और इस प्रकार श्रम की एक इकाई काम के "प्रति व्यक्ति घण्टा" के रूप मे मानी जाती है और यह माना जाता है कि कार्य-दिवस या कार्य सप्ताह की अवधि म वृद्धि के द्वारा श्रम की पूर्ति म वृद्धि की जा सकती है। तृतीय कार्य की तीव्रता को भी इसके अर्थ मे शामिल किया जा सकता है और इस अर्थ मे श्रम की एक इकाई काई ऐसी इकाई मानी जाती है जिससे कार्य के शक्ति उत्पादन (energy-output) का बोध होता है और श्रमिको द्वारा पहले की अपेक्षा अधिक मेहनत से काम करने पर श्रम की पूर्ति मे वृद्धि मानी जाती है। इसके विपरीत, काम की तीव्रता मे होने वाले परिवर्तनो से पृथक काम मे प्रयुक्त दक्षता (skill) मे होने वाले परिवर्तनो को (जहा तक इनके मध्य कोई विभाजन रेखा खीची जा सकती है) श्रम की मात्रा के बजाय इसके गुण (Quality) को प्रभावित करने वाला कारक मानना ही अधिक उचित प्रतीत होता है।

प्रथम दृष्टि मे यह प्रतीत हो सकता है कि मजदूरी जितनी ऊंची होगी काम करने की योग्यता एव उत्प्रेरणा उतनी ही अधिक होगी और इसलिये श्रम की पूर्ति भी उतनी ही अधिक होगी अथवा इसके विपरीत दशायें होने पर उतनी ही कम होगी। किन्तु एक महत्वपूर्ण बात जो विपरीत दिशा मे कार्यशील होती है, यह है कि जनसख्या के इतने बड़े वर्ग द्वारा श्रम-बाजार मे प्रवेश करने और मजदूरी पर अपनी सेवायें उपलब्ध करने का मुख्य कारण (जैसा कि प्रथम अध्याय मे हम

1. मार्शल, Principles (आठवा सस्करण), पृ० 532

देख चुके हैं, रोजगार के वैकल्पिक साधनों के अभाव में उनकी निर्धनता है। मजदूर वर्ग जितना अधिक निर्धन होगा, और आड़े समय के लिए श्रमिकों द्वारा संचित कोष जितना ही कम होगा, उतने ही कम मूल्य पर वे अपनी श्रम-शक्ति को बेचने के लिए तत्पर होंगे तथा इसके विपरीत दशा होने पर परिणाम ठीक इसका उलटा होगा। लोगों की आय जितनी कम होगी प्रत्येक अतिरिक्त शिलिंग का मूल्यांकन वे उतना ही अधिक करेंगे, तथा उस अतिरिक्त शिलिंग को प्राप्त करने के उद्देश्य से उतना ही अधिक कार्य करने के लिए वे तत्पर होंगे—दूसरे शब्दों में, यह कहा जा सकता है कि मुद्रा के रूप में अथवा अन्य किसी वस्तु के रूप में उनके श्रम की पूर्ति मूल्य उतना ही कम होगा।[1] प्रारम्भ में प्रायः जैसा सोचा जाता है मजदूरी के स्तर और श्रम की पूर्ति के बीच उसके ठीक विपरीत सम्बन्ध उत्पन्न करने में इस कारक का प्रभाव पर्याप्त रूप में शक्तिशाली हो सकता है, जैसा कि हम पिछले अध्याय में देख चुके हैं (देखिये पृष्ठ 54) मजदूरी में कमी तीन प्रकार से श्रम की पूर्ति में वृद्धि का कारण हो सकती है—निर्धनता के दबाव के अन्तर्गत महिलाओं एवं बालकों की अधिक संख्या को रोजगार प्राप्त करने के लिए यह बाध्य कर सकती है तथा यह मजदूरी पर अधिक घण्टों तक काम करने के लिये अथवा अपने कार्य की तीव्रता को बढ़ाने के लिए दबाव डाल सकती है। इस प्रक्रिया की वास्तव में अपनी सीमायें हैं उदाहरण के लिए, यदि कार्य की अवधि और तीव्रता को एक निर्धारित बिन्दु से परे बढ़ा दिया जाय तो औसत श्रमिक के स्वास्थ्य पर तथा उसके जीवन के कार्य-काल को घटाने में इसका प्रभाव इतना बुरा पड़ सकता है कि जिसकी प्रतिक्रिया कुछ समय बाद श्रम की पूर्ति की कमी के रूप में होगी। इसके विपरीत, मजदूरी में वृद्धि श्रमिकों की आय बढ़ाने के बजाय, अधिक अवकाश माँगने अथवा काम करने के आरामतलब तरीके अपनाने के रूप में लाभ प्राप्त करने के लिए प्रेरित कर सकती है। जैसा कि हम देख चुके हैं कि इस बात के प्रमाण प्राप्त हैं कि मजदूरी के स्तर में परिवर्तनों की इसी प्रकार की प्रतिक्रिया जन्म दर पर इसके प्रभाव के द्वारा समस्त जनसंख्या पर भी हो सकती है—कम से कम उस स्थान पर तो हो ही सकती है जहाँ संतति-निग्रह के उपायों का ज्ञान व्यापक रूप में लोगों को है।

---

1 कहने का आशय यह है कि "आय की सीमान्त उपयोगिता" प्राप्त आय की मात्रा के अनुसार ऊँची या नीची होगी। यह सिद्धांत के बजाय एक सुविधा की बात होगी कि आय की सीमान्त उपयोगिता के परिवर्तित होने पर यह एक अकेले पूर्ति वक्र के रूप में व्यक्त की जा सकती है जिसका ढाल पीछे की ओर होता है, अथवा सम्पूर्ण पूर्ति-वक्र में नई स्थितियों पर गतिशीलताओं को शृंखलाओं के रूप में व्यक्त की जा सकती है। मूर्त आँकड़ों के सांख्यिकीय अध्ययन की दृष्टि से प्रथम का ज्यादा उपयोग होता है, लेकिन परिवर्तन के अलग-अलग कारणों के विश्लेषण की दृष्टि से द्वितीय ज्यादा सुविधाजनक होगा, और पूर्ति की गतिशीलताओं की दो किस्मों के बीच जो अन्तर होता है वह महत्वपूर्ण होगा।

10. आविष्कार एव मजदूरी.—श्रम की माग पर एक महत्वपूर्ण प्रभाव जिसके बारे मे अब तक बहुत कम कहा गया है, औद्योगिक तकनीक की दशा का होता है। यदि यह अपरिवर्तनशील और इस प्रकार की होती है जिसमे मशीनो पर कार्य करने वाले श्रमिको की सख्या सदैव स्थिर रहती हो (जैसे प्रत्येक इजन पर दो व्यक्ति अथवा प्रमुख मात्रा मे कताई मशीनो पर एक निरीक्षक और दो उजरती कारीगर) तो यह स्थिति मजदूरी कोष सिद्धान्त के समर्थको द्वारा मान्य उस दशा के समान होगी कि *जिसमे श्रम की माग मे होने वाले परिवर्तन सर्वथा पूंजी की मात्रा मे होने वाले परिवर्तनो पर निर्भर होते है अर्थात् अधिक पूंजी का अर्थ अधिक मशीनें और उन पर काम करने के लिए अधिक श्रमिको के रूप मे होगा।*[1] तकनीकी दशाओ की पूर्ण अपरिवर्तनशीलता किसी एक समय के लिये तो सम्भव हो सकती है किन्तु ऐसी लम्बी अवधि के लिए जिसमे मशीनो के प्रकार एव उनके सचालन के तरीको मे परिवर्तन किया जा सकता हो, विद्यमान नही रह सकती—अर्थात् बडे इजनो और बडी खराद मशीनों का प्रचलन हो सकता है, किन्तु फिर भी उन पर काम करने के लिए उतने ही श्रमिको की आवश्यकता हो सकती है जितने श्रमिको की पहले होती थी, अथवा स्वचालित करघो का प्रचलन होने पर भी वही बुनकर अधिक करघों को सचालित कर सकता है।

उद्योग म विनियोजित पूजी सामान्यत दो प्रमुख धाराओ मे विभक्त हो जाती है। एक का उपयोग स्थिर पूजी के रूप मे मशीनो एव सयन्त्रो की स्थापना मे तथा दूसरी का उपयोग सचलन या परिसचारी पूजी के रूप मे कच्चे माल एव श्रम-शक्ति की खरीद मे होता है। यह द्वितीय धारा पुन दो भागो मे विभक्त होती है-एक का उपयोग कच्चे माल पर किये जाने वाले व्यय के रूप मे तथा दूसरी का उपयोग (जिसे मार्क्स ने परिवर्तनशील पूजी अथवा परिभ्रमणशील मजदूरी-कोष के नाम से सम्बोधित किया) श्रम को कार्य पर लगाने मे होगा। इन धाराओ मे पूजी का विभाजन इस प्रकार किया जायगा कि जिससे प्रत्येक धारा के अन्त में लाभ का "स्तर" *लगभग समान रहे और इस प्रकार मजदूरी पर व्यय किया गया अन्तिम पौड व्यवसाय की विशुद्ध उत्पत्ति मे उतना ही योग देता है जितना कि* मशीनो पर व्यय किया गया अन्तिम पौंड देता है। किसी भी समय यह किसी एक व्यवसाय पर एव एक साथ समस्त व्यवसायो पर लागू होता है और इनम वे फर्में भी सम्मिलित की जा सकती हैं जो अन्य उद्योगो मे उपयोग की जाने वाली मशीनों का निर्माण करती है।

---

1. इस पर भी जब तक समस्त उद्योगों में पूंजी का *श्रम के प्रति अनुपात समान नहीं होता* है, विभिन्न वस्तुओं के बीच, जिनमें पूजी की तुलना में अपेक्षाकृत अधिक और अपेक्षाकृत कम श्रम समाहित होता है, माग के परिवर्तन, पूंजी की पूर्ति में परिवर्तन के अतिरिक्त, श्रम की माग पर प्रभाव डालेंगे।

इन धाराओं के मध्य पूंजी के वितरण का सबसे लाभदायक अनुपात विभिन्न उद्योगों में उनकी उत्पादक प्रक्रियाओं की तकनीकी प्रकृति के अनुसार भिन्न होगा। किन्तु समस्त उद्योग में मशीनी तकनीक की एक निर्धारित स्थिति के होने पर एक ऐसा निश्चित अनुपात अवश्य प्राप्त होगा जो सबसे अधिक लाभदायक होगा तथा नई पूंजी का प्रवाह स्वयं को इन्हीं अनुपातों में विभक्त कर लेगा। यह स्पष्ट है कि यदि कोई ऐसा आविष्कार होता है जो मशीनों के निर्माण को सस्ता बनाने में एवं उनकी कुशलता में वृद्धि करता है, तो इसका प्रभाव यह होगा कि मशीनों में किया जाने वाला विनियोग पहले की अपेक्षा अधिक लाभदायक हो जायगा और इसलिये धन का अपेक्षाकृत अधिक अनुपात मशीनों में विनियोग के लिए प्रोत्साहित होगा और इन मशीनों को सचालित करने के लिए नियोजित श्रम पर मजदूरी कोष के रूप में इसका कम अनुपात प्रयुक्त होगा। यह वह कारण था जिसे मार्क्स ने यह सिद्ध करने के लिये प्रयुक्त किया कि श्रम की माग पूंजी के सचय के साथ उसी अनुपात में नहीं बढती, अपितु ज्यो-ज्यो पूंजी में वृद्धि होती है श्रम की माग अपेक्षाकृत घटती जाती है: "फिर भी यह बढती अवश्य है, किन्तु यह वृद्धि, पूंजी में हुई वृद्धि की तुलना में निरन्तर घटते हुए अनुपात में होती है।"

परम्परागत रूप में यह मान्यता रही है कि इस प्रकार का प्रतिस्थापन (किसी निर्धारित समय में श्रम की खरीद के लिए प्रयुक्त पूंजी के स्थान पर मशीनों एवं स्थिर पूंजी की अन्य मदों में विनियोजित एवं अवरुद्ध पूंजी का प्रतिस्थापन) मजदूरी में वृद्धि का ही परिणाम होगा। इस दृष्टिकोण का यह कारण बतलाया गया है कि श्रम की लागत में वृद्धि मशीनों में विनियोजित पूंजी की लाभदायकता की तुलना में श्रम के रोजगार में विनियोजित पूंजी की लाभदायकता में कमी कर देगी और इस कारण पहली धारा की अपेक्षा दूसरी धारा की ओर पूंजी के अधिक प्रवाह को प्रोत्साहन मिलेगा। जैसा कि हम अगले अध्याय में देखेंगे इस परम्परागत निष्कर्ष के लिए एक प्रमुख कारण यह रहा है कि श्रम की माग काफी लोचदार होती है और मजदूरी में होने वाली वृद्धि शीघ्र ही रोजगार के क्षेत्र को सकुचित कर देती है।

किन्तु इस प्रकार के तर्क के विरुद्ध एक आपत्ति मस्तिष्क में तत्काल उत्पन्न होती है कि क्या मशीन स्वयं भी श्रम की उत्पत्ति नहीं है—एक ऐसा श्रम जिसके लिये "जीवित श्रम" शब्द प्रयोग करने के बजाय मार्क्स ने "सचित श्रम" (stored-up labour) अथवा "मृत श्रम" शब्दों का प्रयोग करना अधिक उचित समझा। यदि इसमें सत्यता है तो क्या मजदूरी में वृद्धि का मशीनों की लागत पर वही प्रभाव नहीं होगा जो उस श्रम की लागत पर होता है जिसे मशीनें विस्थापित करती हैं और इसलिए क्या पूंजी के प्रवाह को सहारा देने वाली दोनों धाराओं के

सापेक्ष प्राकर्षण मे परिवर्तन नही हो जायगा ? किन्तु यह आपत्ति उस दशा मे सही मानी जायगी जबकि ब्याज की दर ,जो मशीन की लागत का एक महत्वपूर्ण भाग होती है) मजदूरी में परिवर्तन के परिणामस्वरूप नही गिरती है । क्या इस तरह का परिणाम सम्भव है—यह प्रश्न हमे हमारी जाच के क्षेत्र से काफी दूर ले जायगा यहा पर यह कहना पर्याप्त होगा कि भूतकाल मे अर्थशास्त्रियो ने सम्भवत यह मान लिया था कि ऐसा अवश्य होगा और मशीन या सचित श्रम को विनियोग के साधन के रूप मे प्रत्यक्ष या जीवित श्रम की तुलना मे विशेष महत्व दिया जायगा । लेकिन ब्याज की दर के निर्धारण के सम्बन्ध म कुछ आधुनिक सिद्धातो ने इस बात मे आशका उत्पन्न कर दी है कि वास्तव मे मजदूरी मे वृद्धि होने से इस तरह का कोई परिणाम उत्पन्न होगा अथवा नही ।[1]

हमने जिस प्रकार के आविष्कार का उल्लेख किया है उसे प्राय "श्रम की बचत करने वाला" (labour saving) कहा जाता है । समस्त तकनीकी परिवर्तन इस प्रकार का नहीं होता । इनमे से कुछ का प्रभाव "पूजी की बचत करने वाला" (capital saving) होता है और ऐसी दशा म ऊपर जो कुछ कहा गया है उसका प्रभाव, जहा तक श्रम की माग एव पूजी की माग पर पडने वाले प्रभावो का सम्बन्ध है, विपरीत होगा । किन्तु अनुभव यह बतलाता है कि आविष्कार का प्रभाव प्रधान रूप से "श्रम की बचत की दिशा मे हुआ है । इस प्रकार का तकनीकी परिवर्तन मजदूरी मे अपेक्षाकृत कमी कर देगा,[2] अर्थात् कुल उत्पत्ति मे श्रम के आनुपातिक भाग को घटा देगा । किन्तु एक प्रश्न जिस पर पर्याप्त विवाद रहा है यह है कि क्या यह निरपेक्ष रूप से मजदूरी मे इस प्रकार कमी कर देगा कि सामान्यत. श्रमिको की वास्तविक आय मे भी कमी हो जाय । यदि इस प्रकार के तकनीकी परिवर्तन क परिणामस्वरूप उस श्रम की मात्रा मे कमी होती है जो किसी निर्धारित उत्पादन को प्राप्त करने के लिए आवश्यक है तो यह उपलब्ध रोजगार की मात्रा को अथवा मजदूरी की उस दर को जिस पर काम मिल सकता है,

---

1. ब्याज के आधुनिक सिद्धान्त के अनुसार मजदूरी में वृद्धि हाने से ब्याज की दर पर ठीक प्रतिकूल प्रभाव पड सकता है, अर्थात् वह दर मुद्रा की "व्यवसाय—माग" में वृद्धि होने से बढ सकती है । ऐसा प्रतीत होता है कि पुराना मत इस मान्यता पर आधारित था कि यदि अपेक्षाकृत ऊँची मजदूरी के कारण मुनाफा घट जाता है तो ब्याज को दर भी अनिवार्यत नीची हो जायगी, और (रिकार्डो के प्रसिद्ध कथन के अनुसार) 'मजदूरी के बढने पर मुनाफे घटते हैं" ।

2. डा० कैलेस्की द्वारा हाल ही में श्रम के हिस्से पर एकाधिकार के प्रभावों के अपने विश्लेषण में प्रयुक्त विशिष्ट मान्यताओं (स्थिर अल्पकालीन लागतों) के अन्तर्गत इस पर ऐसा कोई प्रभाव नहीं पडेगा (Essays in the Theory of Economic Fluctuations, पृ० 24)

निश्चय ही कम कर देगा। भूतकाल में अर्थशास्त्रियों की प्राय यह धारणा रही है कि तकनीकी परिवर्तन के दो प्रकार के ऐसे क्षतिपूरक प्रभाव होंगे कि जिसमें प्रारम्भ में आविष्कार के प्रभाव के कारण श्रम की माग में प्रत्यक्ष कमी होने के बावजूद भी, श्रम की सकल वास्तविक आय दीर्घकाल में बढ़ जायगी। इनमें से प्रथम क्षतिपूर्ति नई तकनीक के फलस्वरूप सस्ती वस्तुओं के रूप में होगी और इसके द्वारा किसी निर्धारित नकद मजदूरी की क्रय-शक्ति में वृद्धि हो जायगी तथा इस प्रकार यह नकद मजदूरी की दरों के घटने की प्रवृत्ति को (जहाँ तक समस्त श्रमिक वर्ग की आय का प्रश्न है) सन्तुलित या इससे भी अधिक कर देगी। इनमें से द्वितीय क्षतिपूर्ति उत्पादन के विस्तार के रूप में होगी, क्योंकि यह कहा जाता है कि ऐसा विस्तार परिष्कृत तकनीकी उपायों के प्रयोग के द्वारा निर्धारित उत्पादन को प्राप्त करने की लागत में कमी के फलस्वरूप होगा। यदि माग पर्याप्त लोचपूर्ण हो, तो दीर्घकाल में सम्भवत उत्पादन इस प्रकार बढ़ेगा कि काम के लिए उपलब्ध स्थानों की संख्या उतनी ही (अथवा उसमें अधिक भी) होगी जितनी कि नई तकनीक को लागू करने से पहले थी।

इनमें से प्रथम क्षतिपूर्ति के विषय में यह कहा जा सकता है कि यह केवल इसीलिये आवश्यक नहीं है कि जिससे आविष्कार के फलस्वरूप सस्ती वस्तुओं के रूप में श्रमिक कुछ लाभ प्राप्त कर सकें (यदि श्रम की माग में होने वाले प्रारम्भिक-ह्रास को बराबर करना है) बल्कि इसलिए भी आवश्यक है कि जिससे ये सस्ती वस्तुयें श्रमिकों के उपभोग का एक महत्वपूर्ण भाग बन सकें। यदि इस पर ध्यान दिया जाय कि भूतकाल में श्रमिक वर्ग के व्यय का लगभग दो-तिहाई भाग ऐसी वस्तुओं पर व्यय हुआ है जो निर्माण व्यवसायों एवं कृषि द्वारा उत्पादित हुई थी, तो वास्तविक मजदूरी पर मशीनी आविष्कारों का यह क्षतिपूरक प्रभाव उससे कहीं कम होगा जितना कि प्राय. समझा जाता है। कदाचित उपभोक्ता के रूप में श्रमिकों को सबसे अधिक लाभ प्रदान करने वाले तकनीकी सुधारों में वाष्पचालित जलयान तथा समुद्रपार कृषि प्रधान देशों में रेलों का विस्तार सम्मिलित किया जा सकता है क्योंकि उन्नीसवीं शताब्दी के उत्तरार्द्ध में खाद्य-पदार्थों को सस्ता करने में इनका महत्वपूर्ण योग था और उस काल में वास्तविक मजदूरी में हुई वृद्धि भी इसी कारण से सम्भव हो सकी, किन्तु इस प्रकार कुछ क्षतिपूरक प्रभाव पुन. होने की सम्भावना सदैव विद्यमान रहती है।

जहा तक द्वितीय क्षतिपूर्ति का सम्बन्ध है पिछले वर्षों में कुछ अर्थशास्त्रियों ने उस आशावादिता को चुनौती दी है जिसके आधार पर यह मान्यता थी कि लगभग समस्त दशाओं में श्रम की बचत करने वाले यन्त्रों द्वारा उत्पन्न श्रम के प्रारम्भिक विस्थापन को बराबर करने के लिए यह व्यापक स्तर पर घटित होगी।

यह कहा गया है कि सामान्यत वस्तुओ के लिए माग की लोच (वस्तु विशेष की माग से पृथक) समस्त जनसख्या की मकल आयु के स्थिर रहने पर बहुत अधिक नही हो सकती, तथा माग (और इसीलिए उत्पत्ति) मे वृद्धि तभी सम्भव हो सकेगी जबकि पहले आय मे कुछ वृद्धि हो जाय। यहा यह शका उठाई जा सकती है कि यदि तक्नीक मे आविष्कार का प्रारम्भिक प्रभाव रोजगार मे कमी के रूप मे होता है तो बढी हुई बिक्री एव उत्पादन की क्षतिपूर्ति उचित रूप मे किस प्रकार हो सकती है ? इस आपत्ति का प्राय यह उत्तर दिया जाता है कि तकनीकी परिवर्तन का एक महत्वपूर्ण (एव तात्कालिक) प्रभाव विनियोग को प्रोत्साहन देना है। चूकि श्रम की बचत करने वाले आविष्कार मानवीय श्रम की सहायता के लिए अधिक शक्ति की व्यवस्था करते है, इसलिए उनका प्रथम प्रभाव अधिक मशीनो के लिए माग उत्पन्न करने के रूप मे होता है ताकि श्रम की तुलना मे मशीनी उपकरणो के अनुपात मे वृद्धि की जा सके। यदि इसका अर्थ मशीन-निर्माण व्यवसायो मे अधिक रोजगार से है और इसलिये इन व्यवसायो से सम्बद्ध व्यक्तियो की आय मे वृद्धि से है, तो अन्य वस्तुओ की माग मे भी वृद्धि होगी। अत जब तक तकनीकी परिवर्तन चालू हैं, पू जीगत उपकरणो के स्टॉक मे अधिकाधिक वृद्धि करने की इस प्रक्रिया का रोजगार एव आय पर अच्छा प्रभाव पडेगा। किन्तु यह स्मरणीय है कि प्रोत्साहित विनियोजन का यह क्षतिपूरक प्रभाव केवल उस समय तक कार्यशील होता है जब तक कि निर्माण की यह प्रक्रिया चालू रहती है। इस अर्थ मे यह "अन्तिम" प्रभाव माना जा सकता है, किन्तु यह आवश्यक नही है कि वह स्थायी भी हो। एक बार समाप्त हो जाने के बाद वस्तु-स्थिति यह हो जाती है कि उत्पादन करने के लिए पहले की अपेक्षा कम श्रम की आवश्यकता होती है, और विनियोजन अथवा उपभोग पर लोगो के व्यय को बढाने की दिशा मे जब तक कोई स्थायी शक्तिया प्रकट नही होती, तब तक इतना सब कुछ होते हुए भी अन्तत. परिणाम यह होगा कि रोजगार के स्तर मे गिरावट आ जायगी।[1]

---

1 इस तक के पूर्ण विवेचन के लिए देखिए जोन रोबिन्सन, Essays in the Theory of Employment, पृ० 132-36.

मज़दूरी एवं सौदाकारी शक्ति | 5

1. निर्बाधावादी दृष्टिकोण (The "Laissez-Faire" view):—पिछले अध्याय में उल्लिखित मजदूरी सिद्धान्तों के स्वरूप में अन्तर्निहित भिन्नताओं द्वारा जो एक मौलिक प्रश्न उत्पन्न होता है वह यह है कि क्या मजदूरी का स्तर पूर्णतः अथवा अंशतः नियोक्ताओं एवं श्रमिकों की सौदाकारी शक्ति पर निर्भर करता है अथवा क्या अन्ततः यह ऐसी आर्थिक शक्तियों द्वारा निर्धारित होता है जिनके लिए दोनों अनुबन्धित पक्षों की शक्ति का कोई महत्व नहीं है तथा जो केवल सौदाकारी शक्ति के द्वारा ही झुकाई नहीं जा सकती है? सौदाकारी शक्ति वस्तुतः एक ऐसी अस्पष्ट अभिव्यक्ति है जिसे अनेक अर्थों में प्रयुक्त किया जा सकता है और बाजार सम्बन्धी दशाओं के विषय में सूचनायें प्राप्त करने के अभिप्राय से किये जाने वाले एकाधिकारी कार्यों से लगा कर सौदाकारी प्रक्रिया में किसी व्यक्ति को सुदृढ़ आधार प्रदान करने के लिए पृष्ठभूमि में कुछ रिजर्व की सुरक्षा जैसे अनेक कारकों का इसमें समावेश हो सकता है। इनमें से किसी भी अर्थ में सौदाकारी-शक्ति के प्रभाव की व्यापकता से इन्कार करने वाले शक्तियों की संख्या (यदि कोई है तो) उतनी ही कम है जितनी कि उसमें असीम शक्ति का दर्शन करने वाले व्यक्तियों की है। यह भेद केवल अधिक या कम बल देने से सम्बन्धित है और इसके अनेक स्वरूप हैं। किन्तु मुख्य बात यह कि मजदूरी की समस्या से सम्बद्ध जिस प्रत्यक्ष एवं व्यावहारिक प्रश्न पर लेखक दो दलों में विभक्त हो गये हैं वह यह है कि क्या सामूहिक सौदाकारी और हड़ताल की कार्यवाही के द्वारा श्रम-संघों द्वारा अथवा वैधानिक न्यूनतम मजदूरी लागू करके राज्य द्वारा उत्पन्न स्थायी प्रभाव इतना कम है कि

उसे नगण्य समझा जाय (जब तक कि वह उत्पादन मे बाधक होकर हानिकारक न हो) अथवा क्या यह ऐसे मजदूरी के सिद्धात के लिए इतनी महत्वपूर्ण है जो व्यावहारिक मामलो के लिए इसे भ्रान्तिमूलक मार्गदर्शक मानकर उपेक्षित कर देता है ?

गत शताब्दी के मध्य मे जबकि श्रमसघो की बढती हुई शक्ति चिन्ता एव व्यग्रता उत्पन्न कर रही थी, इन दोनो विचारो मे से प्रथम विचार, अर्थात् यह कि इस प्रकार के कार्य का स्थायी प्रभाव नगण्य होता है और जिसे हम मजदूरी का निर्बाधावादी या निर्बन्ध सिद्धान्त कह सकते हैं—अर्थशास्त्रियो द्वारा प्राय स्वीकार किया जाता था। उदाहरणार्थ जॉन स्टुअर्ट मिल का तर्क यह था कि राज्य के लिए न्यूनतम मजदूरी निर्धारित करना उस समय तक व्यर्थ होगा जब तक कि इसके साथ साथ जन्म लेने वालो की सख्या को नियत्रित करने के लिए भी कार्यवाही न की जाय (एक ऐसा विचार जिसमे उसके द्वारा बाद मे सशोधन किया गया) जेवन्स ने मेनचैस्टर के ओवन्स कालेज मे अपने उद्घाटन भाषण के अधिकाश भाग मे श्रम सघो पर प्रहार किया तथा एक लोकप्रिय प्रवेशिका (Primer) मे इन शब्दो मे घोषित किया कि "ऐसा कोई भी कारण नही है जिससे यह सोचा जा सके कि अधिकाश व्यवसायो मे मजदूरी बढाने की दिशा मे श्रम-सघो का कोई स्थायी प्रभाव पडा है।[1] यहा तक लार्ड ब्रासे (Lord Brassey) ने जो यह सिद्ध करने के अत्यन्त इच्छुक थे कि "सस्ते श्रम का (नियोक्ताओ पर) वैसा ही शक्ति ह्रास करने वाला प्रभाव होता है जैसा कि हेनीबाल (Hannibal) के सैनिको पर कापुआ 'capua) के उल्लास का होना है," यह प्रतिपादित किया कि श्रम-सघ मजदूरी को बढाने का प्रयास करने के बजाय अपने सदस्यो मे सूचनायें प्रसारित करने मे अधिक व्यस्त थे। किन्तु विक्टोरिया काल के सिद्धात की कट्टरता यद्यपि बहुत कुछ ढीली पड गई है फिर भी अपनी मूल अभिव्यक्ति मे इस विचार के आज भी प्रबल समर्थक है जैसा कि निम्न उदाहरण से स्पष्ट होता है। प्रोफेसर रोबिन्स ने एक बार लिखा कि, 'यह विचार कि श्रम-सघ अधिकाश दशाओ मे अपने सदस्यो की मजदूरी मे स्थायी वृद्धि करवाने मे सहायक हो सकते हैं कठिनता से लुप्त होता है—*अधिकाश दशाओ मे कम से कम इस विश्वास का अन्त* निराशा मे हुआ। दीर्घकाल मे यह सम्भव नही है कि श्रम-सघ मजदूरी मे प्रति-स्पर्धात्मक स्तर से अधिक स्थायी वृद्धि करवाने मे सफल हो सकेंगे।" और फिर "प्रतिस्पर्धात्मक स्तर से अधिक न्यूनतम मजदूरी के बडे पैमाने पर स्थापना का एक परिणाम यह होगा कि उत्पादन मे कमी हो जायगी और बेरोजगारी उत्पन्न होगी।"[2] सर ह्यूबर्ट हेन्डरसन ने भी ऐसा ही मत व्यक्त किया जब उन्होने इस

1. 'ए प्राइमर ऑफ पोलीटीकल इकोनोमी' पृष्ठ 64 तथा उनके द्वारा लिखित 'इम्पोर्टेन्स आव डिफ्यूजिंग ए नालिज आव पोलीटीकल इकोनोमी' (1866)
2. लियोनल रोबिन्स, 'वेजेज' पृष्ठ 67-68 तथा 72-73.

बात पर जोर दिया कि 'मजदूरी का स्तर दीर्घकाल में कार्य-कठोरता से निर्धारित होता है—ऐसा मानना भ्रान्तिपूर्ण होगा कि मजदूरी के सामान्य स्तर में श्रम संघों द्वारा किए गए कार्यों से उल्लेखनीय एवं स्थायी वृद्धि हो सकती है—सिवाय इसके कि यह माना जाए कि कुछ हद तक इससे श्रमिकों की कार्यकुशलता में वृद्धि होती है और यह सामान्य रूप से नियोक्ताओं की कार्यकुशलता में वृद्धि को भी प्रोत्साहित करता है।"[1]

2. "सामान्य" प्रतिस्पर्धात्मक मजदूरी—इस विचार का प्रथम आधार श्रम के मूल्य को ऐसे उच्चतम स्तर पर निर्धारित करने में होने वाली प्रतियोगिता का प्रभाव है जिसे वे मालिक से उचित समझ होता है। जे. एस. मिल का कथन था कि "ऐसा मानना गलत होगा कि प्रतियोगिता मजदूरी को केवल नीचा बनाये रखने में ही सहायक होती है। वस्तुतः यह इन्हें बढ़ाने में भी उतनी ही सहायक होती है।" उनके के अनुसार 'कोई भी पूंजीपति एक या दो वर्ष से अधिक काल तक असामान्य लाभ नहीं प्राप्त कर सकता क्योंकि यदि वह ऐसा करता है तो इसकी जानकारी अन्य पूंजीपतियों को भी निश्चय ही लग जायेगी और वे भी ऐसा ही करने का प्रयत्न करेंगे। परिणाम यह होगा कि इस प्रकार के व्यवसाय में श्रम की माँग में वृद्धि हो जायेगी।" जे. आर. हिक्स महोदय ने यह सुझाव दिया कि प्रत्येक नियोक्ता की उत्कृष्ट श्रम प्राप्त करने की इच्छा का एक ऐसा विशेष प्रभाव पड़ेगा कि जिससे उसके मन में श्रम के लिए अन्य नियोक्ताओं की अपेक्षा अधिक मूल्य चुकाने की भावना इस आशा से जागृत होगी कि ऊँची मजदूरी देने वाले नियोक्ता के रूप में उसकी ख्याति के फलस्वरूप व्यवसाय का सर्वोत्कृष्ट श्रम उसकी ओर आकर्षित होगा।

किन्तु यह मान भी लिया जाय कि मजदूरी में श्रम-संघ अथवा राज्य के कार्यों से इस प्रतिस्पर्धात्मक स्तर से भी अधिक वृद्धि होती है तो उसको बुरा ठहराने से कौन रोकेगा? यदि नियोक्ताओं का अपेक्षाकृत कम लाभ होता एवं उद्योग की उत्पत्ति का अधिक भाग उनके श्रमिकों को मजदूरी चुकाने में व्यय हो जाता है, तो इससे क्या अन्तर पड़ेगा। यहाँ एक दूसरा तर्क प्रबल हो जाता है और वह यह है कि श्रम की माँग की लोच इसका प्रतिरोध करेगी। भ्रान्ति को दूर करने के लिए यहाँ यह कहना आवश्यक होगा कि इस बात से इन्कार नहीं किया जा सकता है कि यदि पर्याप्त शक्ति का प्रयोग किया जाता है तो मजदूरी को उच्च स्तर पर स्थायी रूप से कायम रखा जा सकता है। किन्तु ऐसा उस समय तक नहीं हो सकता जब तक कि दीर्घकाल में श्रम के लिए माँग में इतनी अधिक कमी न आ जाय कि [illegible]

---

1. [illegible], पृष्ठ 145.

उच्च मजदूरी से प्राप्त होने वाले लाभ की तुलना मे बेरोजगारी के द्वारा श्रम की आय मे कही अधिक हानि होने लगे और इससे मजदूरी मे पुन कमी किये जाने के लिये (बेरोजगारो के दलो द्वारा काम पाने की होड के रूप मे) दबाव पडने लगे यदि सरक्षित व्यवसायो मे नही तो कम से कम ऐसे व्यवसायो मे जो असगठित हैं और जिन्हें न्यूनतम मजदूरी का सरक्षण प्राप्त नही है।

आजकल प्राय इससे इन्कार नही किया जाता कि मजदूरी मे वृद्धि के लिए किया गया प्रयास उस जगह सफल हो सकता है जहा इसके साथ-साथ कुशलता मे भी उसी अनुपात मे वृद्धि हो यद्यपि कभी-कभी यह भी स्वीकार किया जाता है कि ऐसी दशा मे मजदूरी मे पहले ही वृद्धि करना नियोक्ताओं के हित में होगा।[1] इस बात से भी इन्कार नही किया जाता है कि विशेष व्यवसाय होते हैं जिनमे श्रम की माग काफी बेलोच होती है (जैसे कि उन व्यवसायो मे जिनके माल की माग बेलोच होती है, जहां श्रम की प्रतिस्थापना मशीनो द्वारा नही की जा सकती है और जिनमे उत्पादन के अन्य साधनो की पूर्ति इतनी अधिक बेलोच होती है कि उनमे निचोडने के लायक अतिरेक या लगान का काफी अ श होता है। ऐसी दशाओ मे श्रमिको की आय मे वृद्धि उनकी वास्तविक मजदूरी मे उतनी ही कमी के बिना भी की जा सकती है। जिस बात से इन्कार किया जाता है वह यह है कि क्या इस प्रकार की स्थिति समस्त उद्योगो मे अथवा अधिकाश उद्योगो मे विद्यमान हो सकती है: और यह कि सामान्य रूप से श्रम के लिए माग बेलोच होती है। सामान्यत श्रम के लिए माग मे लोच की काफी ऊची सीमा (अर्थात् श्रम शक्ति के मूल्य मे कोई निश्चित परिवर्तन होने पर इसमे काफी प्रसार अथवा सकुचन होना) के लिए दो कारण उत्तरदायी हो सकते हैं। प्रथम, यह माना जाता है कि पू जी को पूर्ति स्वय इस अर्थ मे लोचपूर्ण है कि यदि पू जीपतियो को प्राप्त होने वाले प्रतिफल मे कमी कर दी जाय, जैसा कि मजदूरी-लागत मे होने वाली किसी भी वृद्धि से प्राय होता है, तो पू जीपतियो द्वारा भविष्य मे सचित एव विनियोजित की जाने वाली धनराशि सकुचित हो जायगी। यह सकुचन सभवत पू जीपतियो के पास विनियोग के लिये आय कम हो जाने और उनके द्वारा इस आय के कम अनुपात का विनियोग किये जाने दोनो कारणों से होता है। द्वितीय कारण का आधार वह सिद्धात है जिसे परिवर्तन सिद्धान्त (Principle of Variation) के

1 रोवे महोदय (Rowe) के द्वारा उनकी "वेजेज इन प्रे क्टिस एन्ड थ्योरी" में इस मामले पर बल दिया गया है कि मजदूरी में वृद्धि से श्रमिक की कुशलता में वृद्धि न होकर नियोक्ता के संगठन की कुशलता में वृद्धि होती है, और इसका महत्व बेरोजगारी उत्पन्न किये बिना मजदूरी में वृद्धि के लिए की गयी कार्यवाही की समर्थता की दृष्टि से संदिग्ध प्रतीत होती है, क्योंकि मजदूरी-लागतों में वृद्धि का औद्योगिक पुनर्संगठन पर जो प्रभाव पड़ेगा वह श्रम की बचत करने के पक्ष में होगा।

नाम से सम्बोधित किया गया है। यह तथ्य कि (जैसा पिछले अध्याय के अन्त में बतलाया गया था) पूंजी स्वयं अपने स्वरूप को इस प्रकार परिवर्तित कर सकती है कि इसका एक बड़ा अनुपात मशीन एवं यन्त्रों के रूप में स्थिर पूंजी के लिए प्रयुक्त होने लगे जिसे अर्थशास्त्री साहित्य में "कुल्हाड़ी के पीछे अधिक शक्ति" रखना कहते हैं—और मानवीय श्रम-शक्ति का काम एक मशीन में थोड़े अनुपात का प्रयोग होने लगता। यह उत्पादन की मजदूरी-लागत में वृद्धि के परिणामस्वरूप दो तरीकों से उत्पन्न हो सकता है—अर्थात् उन तकनीकी क्रियाओं में परिवर्तन के रूप में हो सकता है जो प्रत्येक उद्योग में श्रम के स्थान पर मशीनों को प्रतिस्थापित करती है, अथवा विभिन्न उद्योगों के सापेक्ष महत्व के ऐसे परिवर्तन के रूप में, जिससे उत्पादन की उन्हीं शाखाओं में अपेक्षाकृत कमी हो जाय जो स्थिर पूंजी की तुलना में श्रम के उच्च अनुपात का प्रयोग करती हैं तथा ऐसी शाखाओं का विस्तार हो जाय जो अपेक्षाकृत मशीनीकृत होती हैं और कम "श्रम का उपयोग" करती हैं। इन दोनों परिवर्तनों का प्रभाव यह होगा कि श्रम के लिए रोजगार का क्षेत्र संकुचित हो जायगा और इससे मजदूरी के स्तर से पुनः "सामान्य" स्तर तक कमी किए जाने के लिए दबाव पड़ेगा।

किसी निर्धारित अल्पकाल में प्रस्तुत दशा में कोई भी परिवर्तन घटित नहीं होगा। पूंजी की मात्रा एवं उसके विनियोग के स्वरूप, दोनों काफी कठोरता से स्थिर होंगे और तदनुसार श्रम की मांग बेलोच हो जायगी। निर्वाहवादी दृष्टिकोण इसे अस्वीकार नहीं करता। इस पर भी यह स्वीकार किया जाता है कि यदि मजदूरी की किसी वृद्धि के साथ कुशलता में भी उतनी ही वृद्धि नहीं होती तो रोजगार में कुछ संकुचन उत्पन्न हो जाता है क्योंकि उतनी ही श्रम-शक्ति को ऊंची मजदूरी के स्तर पर काम देने के लिए यह आवश्यक होगा कि देश के कुल मजदूरी निधि में वास्तविक वृद्धि की जाय और ऐसा होने की सम्भावना नहीं होती है। ऐसा केवल वहीं हो सकता है जहां तकनीकी दशायें सर्वथा अपरि-वर्तनशील हों (जैसे कि एक व्यक्ति को काम से हटाने का परिणाम यह हो कि एक ट्रक पर भी काम बन्द करना पड़े) अथवा असाधारण तेजी की स्थिति में जब निर्माता रुकावट अनुबन्धों को पूरा करने के इच्छुक हों तथा माल की बिक्री सुगम हो और अत्यधिक व्यावसायिक आशावाद विद्यमान हो। किन्तु दीर्घकाल में जब तकनीकी परिवर्तनों को घटित होने का अवसर प्राप्त हो गया हो तथा विनियोगों के नवीन आदि प्रकार से परिवर्तनों के द्वारा समस्त पूंजी का स्टॉक भी प्रभावित हो चुका हो, तो श्रम की मांग (जैसा कि यहां दिया जाता है) उस माल की तुलना में काफी कम होगी जो वृद्धि एवं मांग की दशाओं के द्वारा मजदूरी को सामान्य अनिश्चित-सा स्तर पर निर्धारित किए जाने की दशा में होती।

3 दो संशोधन —हाल के वर्षों में इस निर्वाहवादी दृष्टिकोण के अधिक

कठोर स्वरूपो के विरुद्ध अर्थशास्त्रियो के द्वारा बहुत अधिक आलोचना की गयी है और इस विषय पर विवाद की पर्याप्त सामग्री जमा हो चुकी है। उन्नीसवी शताब्दी मे भी वस्तुत *श्रम सघी (Trade Unionists) और उनके अनुयायी*[1] इस सिद्धात के प्रचलित अर्थो का विरोध करते थे और समय समय पर किसी अर्थशास्त्री द्वारा इसकी किसी महत्वपूर्ण मर्यादा पर जोर दिया जाता था किन्तु आज इस सिद्धान्त के प्रति असहमति अधिक सामान्य हो गई है और इस सदेहास्पद दृष्टिकोण के समर्थन मे अनेक नये तर्क और पुराने तर्क नवीन रूप मे प्रस्तुत किये गये हैं।

इससे पहले कि हम इन तर्कों में से कुछ पर विचार करें दो ऐसी बातो पर विचार करना होगा जिनके विषय में कदाचित कोई विवाद तो नही है फिर भी जिनकी प्राय अवहेलना कर दी जाती है। सर्वप्रथम, यदि एक बार यह भी मान लिया जाय कि निर्बाधावादी दृष्टिकोण की जैसी रूपरेखा हमने दी है वह अपने कठोरतम रूप मे सही है, तो इससे यह निष्कर्ष नही निकाला जा सकता कि इसके द्वारा परिभाषित मजदूरी का "सामान्य" स्तर इस अर्थ में "स्वाभाविक" था कि इसे प्राकृतिक क्रम के द्वारा लागू किया गया था और इसलिए यह सभी प्रकार की सामाजिक व्यवस्थाओ एव प्रचलित सामाजिक सस्थाओ के लिये अनिवार्यत सही था। और न इससे यह निष्कर्ष निकाला जा सकता है कि यह मजदूरी का स्तर श्रम की विशेष किस्म की 'उत्पादकता" का प्रतिनिधित्व करता है, अथवा समाज को इसके द्वारा प्रदान किया गया "योगदान" किसी भी अर्थ में किन्हीं दी हुई परिस्थितियों में प्रतिस्पर्धात्मक बाजार द्वारा निर्धारित मूल्याकन से कुछ अधिक होगा। और यह वह मूल्य है जिसे प्राप्त करने में श्रम की सापेक्ष प्रचुरता अथवा दुर्लभता (उत्पादन की अन्य आवश्यकताओ, उद्योग के सामान्य सगठन और माग की सामान्य दशाओ की तुलना में) सहायक होगी। यदि यह सही भी मान लिया जाय कि अन्य बातें समान रहने पर मजदूरी में इस स्तर से ऊपर वृद्धि कर देने से अनिवार्यत बेरोजगारी फैलेगी, तो भी अन्य बातो के पूर्ववत् रहने पर यह कहना कि पूजीपतियो के द्वारा अपेक्षित ब्याज या लाभ का ऊचा स्तर इस बेरोजगारी का ही एक "कारण" था उतना ही सत्य होगा जितना कि यह कहना कि यह मजदूरी के स्तर का ही विशेष परिणाम था।

द्वितीय जैसा कि तृतीय अध्याय में स्पष्ट किया जा चुका है, यह निष्कर्ष नहीं निकलता कि श्रम की कुल आय में कमी करने वाले समस्त कारण श्रम के कल्याण के प्रतिकूल होते हैं। और यह निष्कर्ष भी नहीं निकलता जैसा कि जेवन्स ने विश्वासपूर्वक स्वीकार किया था कि "सम्पत्ति के स्रोत श्रम में कमी करके इस

---

1. इग्लैंड में विशेष रूप से श्री और श्रीमती वेब ने अपने 'इन्डस्ट्रियल डेमोक्रेसी' में व्यक्त किया है।

सम्मवत लोगों के कल्याण में वृद्धि नहीं कर सकते।"[1] कुछ दशाओं में मजदूरी को उनके प्रतिस्पर्धात्मक स्तर से अधिक बढ़ाने के लिये किया गया हस्तक्षेप, भले ही इससे रोजगार का कुल क्षेत्र सकुचित हो जाये सामान्यतः श्रमिक वर्ग के कल्याण को प्रोत्साहित करेगा। ऐसा स्पष्टतः तब होता है जब मजदूरी में वृद्धि जैसे कि समयोपरि दरों में वृद्धि श्रम के घन्टों में कमी के लिए मार्ग प्रशस्त कर देती है, और इससे उनकी आय में भले ही कमी हो जाय, फिर भी सुधरे हुए स्वास्थ्य के रूप में श्रमिकों को जो लाभ होगा वह उस हानि से कहीं अधिक होगा जो उनकी आय में कमी से उन्हें होगी। इसी प्रकार कथित शोषित व्यवसायों या धंधे (sweated trades) में (जिनके विषय में अगले अध्याय में उल्लेख किया जायगा) जघन्य दशाओं के अन्तर्गत कम मजदूरी वाले धन्धों के दुर्भाग्यपूर्ण शोषण से बच्चों एवं महिलाओं को मुक्त करने से दीर्घकाल में होने वाला लाभ सम्भवत आय में होने वाली उस हानि से अधिक होगा जो ऐसे धन्धों की समाप्ति के फलस्वरूप होगी। इस मर्यादा के व्यावहारिक महत्व पर प्राय पूरा ध्यान नहीं दिया गया है और इसका आधार यह है कि इन दशाओं में घटाया गया रोजगार सर्वत्र अधिक अवकाश एवं घटी हुई आय प्रदान करने के बजाय, कुछ व्यक्तियों को पूर्ण दीनता अथवा साधनहीनता की स्थिति में पहुचा देगा, और इसके फलस्वरूप श्रम-कल्याण को होने वाली क्षति विशेष रूप से अधिक होगी, और सम्भवत इतनी अधिक होगी जो नहीं उठाई जानी चाहिए। किन्तु नीचे दिये गये अनेक कारणों से वास्तविक स्थिति ऐसी प्रतीत नहीं होती।

किन्तु यह विचार अन्ततः एक अधिक सामान्य विचार की ओर ले जाता है कि जहां तक सामान्य प्रतिस्पर्धात्मक मजदूरी को निर्धारित करने वाले किसी शक्ति-समूह का प्रश्न है, जैसा कि हम देख चुके हैं कि श्रम की पूर्ति की दशायें अधिकांशतः श्रमिकों के प्रचलित जीवन स्तर पर आधारित होती हैं और इसका परिणाम यह होगा कि तथाकथित सामान्य मजदूरी वस्तुतः एक ऐसे तटस्थ (और यहां तक कि अस्थिर) सन्तुलन की स्थिति के रूप में सामने आती है जिसे विवर्तित किया जा सकता है। मजदूरी में कमी इन दशाओं में ऐसा परिवर्तन ला देगी (श्रम का निम्न पूर्ति-मूल्य) जो उस निम्नतर स्तर को स्थायित्व प्रदान करने में सहायक होगा तथा मजदूरी में वृद्धि होने की दशा में ठीक इसके विपरीत परिवर्तन होगा। अत. श्रमिक को दी जाने वाली मजदूरी के अनुपात में उससे ली जाने वाली काम की मात्रा काफी सीमा तक सौदाकारी शक्ति जैसे कारण से प्रभावित हो सकेगी, और यहां तक कि यदि श्रम की सौदाकारी शक्ति से वृद्धि श्रम की कुल आय में वृद्धि करवाने में सफल नहीं होती, तो भी एक सीमा तक यह आय के बदले अपने श्रम के

---

1. दी स्टेट इन रिलेशन टू लेबर (1894 संस्करण) पृष्ठ 74

विनिमय की शर्तों को अपने लाभ के लिए पर्याप्त रूप से सशोधित करवाने मे सफल हो सकेगी। मार्शल के मस्तिष्क मे यही तथ्य था कि जब उसने इस बात पर जोर दिया कि यदि श्रमिक व्यक्तिगत रूप से और किसी श्रम-सघ की सामूहिक सौदाकारी शक्ति का समर्थन प्राप्त किये बिना सौदा करते है तो उनकी सौदा करने की स्थिति सामान्यत निकृष्ट या घटिया होती है और उनकी यह निकृष्टता उन्हे इस बात के लिए बाध्य करती है कि वे अपनी श्रम-शक्ति का असाधारण सस्ते मूल्य पर विक्रय करें। श्रम की पूर्ति की दशाओ को प्रकृति के द्वारा निम्न मजदूरी का स्तर होने का मुख्य कारण श्रमिको के जीवन स्तर की निम्नता है जैसा कि एक लोकप्रिय कहावत मे बतलाया गया है 'दरिद्रता स्वय दरिद्रता की जननी होती है'। इसका अर्थ यह हुआ कि मजदूर वर्ग की सामाजिक एव आर्थिक दशाओ को प्रभावित करने वाले समस्त समान कारक, मजदूरी-अनुबन्ध की शर्तों को भी प्रभावित करेंगे—उदाहरणार्थ, स्वतन्त्र खेतिहर अथवा कारीगर वर्ग का उन्मूलन जैसे सस्थागत परिवर्तन न केवल श्रम बाजार म प्रतियोगिता करने वाले व्यक्तियो की सख्या मे वृद्धि कर देंगे, बल्कि समस्त श्रमिको को एक वैकल्पिक जीविका के विकल्प से वचित करके, उन्हे आर्थिक दृष्टि से पहले की अपेक्षा कही अधिक निर्भर बना देंगे। ऐसे कारक वास्तव मे मजदूरी अनुबन्ध पर आधारभूत प्रभाव डालेगे, क्योकि, जैसा प्रथम अध्याय मे देखा जा चुका है, परतन्त्र सर्वहारा वर्ग के सृजन के बिना एक पूंजीवादी मजदूरी-प्रणाली अपने ऐतिहासिक आधार के एक महत्वपूर्ण भाग से वचित हो जायगी।

4 **उपभोग एव विनियोग के मानक**—परम्परागत विचार के प्रति किंचित आलोचना के आधार पर अब यह विचार प्रबल हो गया है कि दीर्घकाल मे भी श्रम की माग उससे कही कम लोचदार होती है जितना कि उस इस विचार के अन्तर्गत समझा जाता था, क्योकि पूजी की विद्यमान मात्रा और नवीन विनियोग की दर पर मजदूरी मे होने वाले परिवर्तनो का कोई प्रभाव नही होता। कदाचित यहा यह कहना कि माग बेलोच होती है, भ्रातिपूर्ण होगा (क्योकि इस आलोचना का सम्बन्ध अविचल दशाओ की अपेक्षा मुख्यत चलायमान परिस्थितियो से रहा है) और यह कहना अधिक सरल व प्रत्यक्ष होगा कि विनियोग एव रोजगार पर प्रतिकूल प्रभाव डाले बिना मजदूरी मे वृद्धि तथा अन्य प्रकार की आय मे कमी के लिए उससे कही अधिक अवसर है जितना कि पहले समझा जाता था। सर्वप्रथम, यह हो सकता है कि मजदूरी के स्तर मे हुई वृद्धि का अधिकाश प्रभाव लगान-तत्वो एव अन्य प्रकार की आय मे होने वाले विभिन्न प्रकार के एकाधिकारी-लाभो मे कमी उत्पन्न करने के रूप मे हो और इस कमी का उत्पादन और रोजगार पर कोई प्रतिकूल प्रभाव न पडे। द्वितीय, यदि इससे विनियोक्ता वर्ग कुछ निर्धन भी हो जाय (जिससे कि ऐसा प्रतीत होने लगे कि उनकी विनियोग क्षमता मे कमी हो

गए हों) तो भी इससे यह निष्कर्ष नहीं निकाला जा सकता कि नवीन पूंजी में उनके द्वारा किये जाने वाले विनियोग की मात्रा में कोई बहुत अधिक कमी आ जायगी क्योंकि इससे यद्यपि उनकी वर्तमान आय कम हो जाती है तथा भविष्य में भी आय कम होने की सम्भावना प्रतीत होती है, फिर भी इसका फल यह होगा कि वे पहले की अपेक्षा अपनी आय के अधिक अनुपात को विनियोजित करने के लिए प्रोत्साहित होंगे। दूसरे शब्दों में, यह कहा जा सकता है कि पूंजीपतियों की आय में कमी से उनके व्यय में कमी हो सकती है किन्तु उनके विनियोग में नहीं। इसकी सम्भावना इस तथ्य से और अधिक बढ़ जाती है कि धनिकों के व्यय का ढांचा इतना परम्परागत होता है कि वह ऐसी प्रथाओं एवं उपभोग के ऐसे मानकों पर निर्भर होता है जो स्वयं उच्च आय-स्तर के परिणाम होते हैं। इसकी सम्भावनायें उस समय निश्चित बढ़ जाती हैं जब राष्ट्रीय आय में वृद्धि हो रही हो और मजदूरी में वृद्धि के प्रभाव के कारण पूंजीपतियों की आय एवं उसके कारण उनके द्वारा की जाने वाली फिजूलखर्ची के स्तर में उससे कहीं अधिक धीमी गति से वृद्धि हो रही हो जितनी कि अन्यथा होती।

कुछ भी हो यह विचार काल्पनिक प्रतीत होता है कि आर्थिक सिद्धान्त द्वारा यह प्रदर्शित किया जा सकता है (जैसा कि भूतकाल में स्पष्टतः व्यक्त न होते हुए भी अव्यक्त रूप में इसे माना गया है) कि शोषित श्रम सम्बन्धी धन्धों में मजदूरी में वृद्धि करने का और अल्प मजदूरी प्राप्त करने वाले तथा सर्वथा कंगाल श्रमिकों के शोषण को समाप्त करने का कोई प्रयास धनिकों की सुख-सुविधा में तदनुरूप कमी करने की बजाय भविष्य में श्रमिकों को रोजगार प्रदान करने में प्रयुक्त पूंजी के कोष में अनिवार्यतः कमी कर देगा।

फिर भी यहां यह कहना आवश्यक है कि इस प्रकार के तर्क की भी स्पष्ट सीमायें हैं। एक बार अपना लिये गये व्यय के मानक कालान्तर में सुदृढ़ या अनम्य हो जाते हैं। और ये मजदूरी में होने वाली ऐसी वृद्धि की सीमायें निर्धारित करते हैं जो पूंजीपति वर्ग की आय में पर्याप्त कमी कर देती है (सम्पन्नता के काल में इसे वृद्धि की ओर अग्रसर होने से रोकने के अतिरिक्त)। यदि पूंजीपति को प्राप्त होने वाले भाग में अचानक अथवा अत्यधिक कमी हो जाती है तो इसकी प्रक्रिया "पूंजी की हड़ताल" के रूप में हो सकती है। किसी भी दशा में, जब तक कि उत्पादन एवं विनियोग पर निजी क्षेत्र का नियन्त्रण है यह एक ऐसी सम्भावना है जिस पर विचार करना आवश्यक हो जाता है। इसमें एक कठिन तथ्य यह है कि आज उद्योग में किये जाने वाले नवीन विनियोग का एक बड़ा भाग नये शेयरों के निर्गमन में निजी व्यक्तियों के द्वारा किये जाने वाले अंशदान से नहीं प्राप्त होता, बल्कि अनेक वर्षों के अवितरित लाभों के आधार पर संचित कोषों में से

विशाल कम्पनियो द्वारा प्रत्यक्षत किया जाता है। यह सही है कि यदि ऐसी कम्पनियो द्वारा कमाये जाने वाले लाभ की मात्रा को पर्याप्त सीमा तक कम कर दिया जाय, तो ऐसे कोषो को एकत्रित करने और उनमें से धन का विनियोग करने की उनकी क्षमता में निश्चय ही कमी हो जायगी। किन्तु यह सम्भव नही है कि यदि उनके कुल लाभ मे कमी कर दी जाय तो वे विनियोग के स्तर को बनाये रखने के लिए अशधारियो को लाभाश के रूप मे वितरित किये जाने वाले लाभ के भाग में कमी करना अधिक पसन्द करेगे और जहा तक विनियोग करने की प्रेरणा का सम्बन्ध है यह स्पष्ट नही है कि बडे निगमो की विनियोग-नीति लाभ की अपेक्षित दर मे होने वाले परिवर्तनो के प्रति किसी भी सीधे या सरल तरीके से सवेदनशील होगी। सम्भवतः इस सन्दर्भ में कुछ ऐसे विचारो का अधिक महत्व है जिनका विवेचन *आगे इसी अध्याय में शीर्षक 6 के अन्तर्गत किया गया* है जो यह प्रतिपादित करते है कि अपने स्वय के कर्मचारियो की नकद मजदूरी के स्तर में होने वाले परिवर्तनो का ऐसी कम्पनियो द्वारा अर्जित किये जाने वाले लाभ की मात्रा को निर्धारित करने में कोई बहुत महत्वपूर्ण प्रभाव नही पडेगा। यह भी विचारणीय है कि कम्पनियो के द्वारा अपने कोषो में से किये जाने वाले प्रत्यक्ष विनियोग ही नही, बल्कि विभिन्न प्रकार की सार्वजनिक सस्थाओ द्वारा किये जाने वाले विनियोग भी आज उत्तरोत्तर अधिक महत्वपूर्ण योग दे रहे हैं और दूसरी प्रकार के इन *विनियोगो का नियन्त्रण लाभ कमाने की भावना द्वारा नही होता।* एक समाजवादी प्रणाली में जहा उत्पादन एव विनियोगो पर राज्य का पूर्ण नियन्त्रण होता है किसी विनियोक्ता वर्ग द्वारा किये जाने वाले व्यय के अपरिवर्तनशील मानको द्वारा निर्धारित वह विशिष्ट सीमा जिसका पहले उल्लेख कर चुके है, वास्तव में नही पाई जाती।

5. श्रम बाजार में अपूर्ण प्रतियोगिता—पहले यह कहा जा चुका है (अध्याय III शीर्षक 1) कि प्रतियोगिता के पूर्ण होने पर भी अपने श्रमिको के लिए ऐसी मजदूरी की व्यवस्था करना जो उनके दीर्घकालीन स्वास्थ्य एव कुशलता के लिए पर्याप्त हो सके, अथवा उन्हे आर्थिक सुरक्षा का लाभ प्रदान कर सकें, *अनिवार्यत. नियोक्ताओ के हित में नही होता। किन्तु निर्बाधावादी दृष्टिकोण की* आलोचना जिसके बारे में हाल के वर्षो में बहुत कुछ सुना गया है इस अस्वीकृति मे निहित है कि श्रम बाजार में पूर्ण प्रतियोगिता पायी जाती है और इसलिए उस शक्ति की प्रभावशीलता से भी इन्कार किया जाता है जिसे जे एस मिल ने "मजदूरी को ऊंचा रखने वाले साधनो" की सज्ञा दी। एडम स्मिथ ने एक सुप्रसिद्ध उद्धरण में मौलिक रूप से व्यक्त किया कि "सदैव एव सर्वत्र मालिक श्रमिको की मजदूरी को उनकी वास्तविक दर से अधिक न बढने देने के लिए एक ऐसा सगठन बना लेते है जो अव्यक्त होते हुए भी स्थायी एव समरूप होता है। सर्वत्र

इस संगठन को तोड़ने का कार्य अत्यन्त अलोकप्रिय माना जाता है तथा यह पड़ोसियों एवं बराबरी वालों में मालिक की एक प्रकार से भर्त्सना का प्रतीक माना जाता है।" व्यापक स्तर पर बड़ी फर्मों एवं एकाधिकारी संगठनों के विकास के साथ-साथ यह कथन कदाचित आज पहले से भी अधिक सत्य प्रतीत होता है। जब यह दशा हो तो एक मालिक मजदूरी को 'सामान्य' प्रतिस्पर्धात्मक स्तर तक बढ़ाने के लिए दूसरे मालिक से प्रतियोगिता नहीं करेगा और नियोक्ता के लिए (श्रम की पूर्ति में किंचित लोच स्वीकार करते हुए) कम श्रमिकों को काम पर रखना उससे अधिक लाभदायक होगा जितना कि अन्यथा कम दर पर अधिक श्रमिक रखने से होता। दूसरे शब्दों में, मजदूरी श्रम की 'सीमान्त विशुद्ध उत्पत्ति' से नीचे होगी। यदि कहीं एडम स्मिथ द्वारा बताया गया संगठन नहीं भी है तो श्रम की गतिहीनता (immobility) के विषय में जानकारी के अभाव अथवा एक काम छोड़ कर अन्य काम खोजने में होने वाले व्यय के कारण प्रत्येक नियोक्ता को अपने श्रमिकों के निजी "संग्रह के लिए एक प्रकार का एकाधिकार प्रदान कर सकती है, क्योंकि ऐसे श्रमिक काम छोड़कर किसी अन्य नियोक्ता के अधीन जाने में निश्चेष्ट होते हैं और किसी अन्य धन्धे में श्रमिकों को आकर्षित करने के लिए प्रदान किया जाने वाला अतिरिक्त प्रलोभन पर्याप्त रूप में बड़ा होना है ताकि वह नियोक्ताओं द्वारा एक दूसरे के श्रम के विशिष्ट संग्रह के अतिक्रमण को हतोत्साहित कर सके। वे उपाय, जो किसी कर्मचारी को किसी विशेष फर्म की नौकरी छोड़ने की भावना से विमुख करते हैं, इस प्रभाव में वृद्धि करते हैं उदाहरणार्थ, लम्बी सेवा के पश्चात् पदवृद्धि का अवसर, अथवा किसी सहभागिता में उनकी संलग्नता अथवा फर्म से सम्बद्ध पेंशन की योजना। ऐसे उपायों का वर्णन पहले ही किया जा चुका है जिनका उद्देश्य उद्योग में "श्रमिक-आवर्त" (labour turnover) को कम करना होता है—अर्थात् श्रमिकों द्वारा व्यवसाय-परिवर्तन की गति को कम करना होता है निस्संदिग्ध रूप से उच्च श्रमिक-आवर्त उद्योग की लागतों में अपनी ओर से विशेष वृद्धि करता है। उदाहरणार्थ, सन् 1929 के आसपास रूस में स्थापित किये जाने वाले ट्रैक्टर-कारखानों में तथा उसी प्रकार के अन्य कारखानों में भी कुछ समय तक यह दशा थी कि वे देहात से आने वाले नये श्रमिकों के लिए एक प्रकार के ऐसे प्रशिक्षण विद्यालय बन गये थे कि जिनमें उन्हें काम सिखाया जाता था और फिर वे उन्हें छोड़कर किसी नवीन एवं कम कर्मचारी वाले उद्यम में पदवृद्धि की आशा से चले जाते थे और इसका परिणाम यह होता था कि उस कारखाने की लागतें बहुत अधिक बढ़ जाती थीं और उनकी उत्पादन योजनाओं को पूरा नहीं किया जा सकता था। किन्तु यद्यपि इन विशेष लागतों का अस्तित्व होता है, फिर भी इस विषय का एक अन्य पहलू भी है, और वह यह है कि अमेरिका में विशेषत बहुचर्चित श्रमिक-आवर्त में कमी करने की विभिन्न रीतियों के प्रति नियोक्ताओं का आकर्षण मजदूरी के स्तर में परस्पर प्रतिस्पर्धात्मक दबाव

के कारण उत्पन्न वृद्धि की प्रवृत्ति को कम करने में अशत सहायक हुआ है। यह तथ्य कि श्रम के लिए नियोक्ताओ में होने वाली असाधारण प्रतिस्पर्धा के प्रभावो के प्रति नियोक्ता वर्ग स्पष्टत बहुत भयभीत होता है, इस बात का सूचक है कि ऐसी प्रतियोगिता प्राय कितनी सीमित होती है। उदाहरणार्थ, जब इस देश म सन् 1911 मे सर्वप्रथम रोजगार दिलाने वाले कार्यालय (Employment Exchanges) खोले गये तो कुछ नियोक्ताओ ने यह आशका व्यक्त की कि ये श्रम की अत्यधिक गतिशीलता को प्रोत्साहन देंगे और जब युद्ध काल मे श्रम दुर्लभ हो गया, तो ऊची मजदूरी के आकर्षण के अन्तर्गत श्रमिको द्वारा व्यवसाय बदलने अथवा अन्यत्र काम पर जाने को रोकने के लिए शीघ्रतापूर्वक प्रतिबन्ध लगा दिये गये।[1]

6. एकाधिकार एव अतिरिक्त क्षमता का प्रभाव—हाल ही मे लिखे गये आर्थिक लेखो मे दो ऐसे कारको को विशेष महत्व दिया गया है जो मजदूरी की समस्याओ के विवाद में आमूल परिवर्तन के लिए उत्तरदायी हैं। इनमें से प्रथम एकाधिकार की बडी मात्रा (अथवा कम से कम अपूर्ण प्रतियोगिता की) है जो केवल श्रम बाजार मे ही नही दिखलाई देती (जिसके बारे मे हम पिछले पैराग्राफ मे कह चुके हैं) बल्कि अर्थव्यवस्था के अन्य क्षेत्रो मे भी दिखलाई देती है। द्वितीय, अर्थव्यवस्था मे (युद्धकालीन अपवादो को छोडकर) श्रम शक्ति एव पू जीगत उपकरण, दोनो की पर्याप्त अतिरिक्त क्षमता पायी जाती है।

प्रारम्भ मे यह प्रतीत हो सकता है कि मजदूरी के स्तर क निर्धारण मे अथवा इस स्तर को परिवर्तित करने मे सामूहिक सौदाकारी की क्षमता से इन दोनो मे से किसी भी कारक का कोई सम्बन्ध नही है। किन्तु जहा तक वास्तविक मजदूरी का प्रश्न है, यह नितान्त स्पष्ट है कि समस्त अर्थव्यवस्था म एकाधिकार की मात्रा (अर्थात् वस्तु-बाजार एव श्रम बाजार दोनो मे) लागतो एव वस्तुओ के मूल्यो के सम्बन्ध को प्रभावित करके वास्तविक मजदूरी और इस प्रकार लागतो के एक भाग के रूप मे मजदूरी पर महत्वपूर्ण प्रभाव डाल सकती है।[2] यदि

---

1 प्रथम विश्व युद्ध में कुछ समय तक ये प्रतिबन्ध "काम छोडने के प्रमाणपत्रों" (Leaving Certificates) के रूप में लगाये गये जिन्हें युद्ध उद्योग में काम करने वाले श्रमिकों को अपना रोजगार बदलने से पहले प्राप्त करना होता था। द्वितीय विश्व युद्ध में ये मुख्यत अनिवार्य कार्य आदेश (Essential work order) के रूप में थे जिनके अधीन कोई श्रमिक न तो अपना काम छोड सकता था और न उसे सरकारी अनुज्ञा के बिना निकाला जा सकता था, किन्तु साथ ही श्रमिकों को कुछ आश्वासन दिये जाते थे जिनमें न्यूनतम मजदूरी की गारन्टी भी सम्मिलित होती थी।

2 उद्योग पर समग्र रूप से दृष्टि डालने पर अल्पकालीन अथवा परिवर्तनशील लागतों में मजदूरी और आयातित कच्चा माल सम्मिलित किया जाता है और यदि चक्र "बन्द प्रणाली" (closed system) के बारे में है (अर्थात् जो आयात-निर्यात विहीन है) तो ऐसी सभी लागतें किसी-न-किसी रूप में अन्त में मजदूरी में बदली जा सकती हैं।

एकाधिकार का प्रभाव वस्तुओं के विक्रय-मूल्य में उनकी लागतों की अपेक्षा अधिक वृद्धि के रूप में होता है तो इसका प्रभाव यह होगा कि निर्धारित नकद मजदूरी की क्रय शक्ति कम हो जायगी। इसके विपरीत, यदि एकाधिकार की मात्रा में कमी कर दी जाती है तो किसी निर्धारित नकद मजदूरी से सम्बद्ध वास्तविक मजदूरी के स्तर में वृद्धि हो जायगी। श्रमिकों द्वारा उपभोग की जाने वाली वस्तुओं पर 'जिन्हें मजदूरी वस्तुओं के नाम से सम्बोधित किया जाता है, एकाधिकार के प्रभाव के विषय में भी यह कथन सत्य होता है। कुछ अर्थशास्त्रियों का यहां तक विचार है कि समस्त अर्थव्यवस्था में एकाधिकार की मात्रा कुल उत्पत्ति में श्रम के भाग की प्रमुख निर्धारक होती है और यह कि श्रम की उत्पादकता और मजदूरी–वस्तुओं का उत्पादन करने वाले उद्योगों में एकाधिकार की सीमा सम्मिलित रूप में वास्तविक मजदूरी के प्रचलित स्तर को निर्धारित करती है।

इस प्रकार से इससे यह बोध हो सकता है कि मजदूरी के लिए श्रम-संघों द्वारा की जाने वाली सौदाकारी का (जिसका सम्बन्ध प्रत्यक्ष नकद मजदूरी से होता है) श्रम के वास्तविक भाग पर कोई प्रभाव नहीं पड़ सकता और इससे आखिरकार परम्परागत निराशावादी दृष्टिकोण का समर्थन हो जाता है, भले ही वह नवीन कारणों से ही क्यों न हो। किन्तु यह निष्कर्ष अनिवार्यतः सत्य नहीं है, क्योंकि श्रम संघों की कार्यवाही श्रम-बाजार में क्रेता के एकाधिकार द्वारा नकद मजदूरी पर डाले जाने वाले प्रत्यक्ष प्रभाव को मिटाने में शक्तिशाली सिद्ध हो सकती है और इस सीमा तक यह मजदूरी और वस्तुओं के मूल्यों के अन्तर को कम कर सकती है। इसके अतिरिक्त यदि श्रम संघ की कार्यवाही का सम्बन्ध केवल वस्तुओं के मूल्यों (और इस प्रकार लाभ की मात्रा को) नियन्त्रित करने, तथा नकद मजदूरी के निर्धारण (ये वे कार्य हैं जिनमें श्रम संघ भूतकाल में व्यस्त रहे हैं) तक ही सीमित हो, तो उत्पत्ति में श्रम के भाग को प्रभावित करने में इसकी शक्ति और भी अधिक प्रबल हो जायगी।

अप्रयुक्त उत्पादन क्षमता के अस्तित्व से सम्बद्ध समस्याओं पर आधुनिक सिद्धान्तों द्वारा दिए जाने वाले बल का मजदूरी सिद्धान्त से इतना सीधा टकराव नहीं है जितना कि एकाधिकार के उस प्रभाव को दिये जाने वाले बल का है जिसके बारे में हम अभी उल्लेख कर चुके हैं। किन्तु यह कई नवीन गतिमान तत्वों का स्थापित करती है और इसमें वे तत्व भी सम्मिलित हैं जिन पर परम्परागत सिद्धान्त के अनुसार किसी निर्धारित मजदूरी के स्तर पर प्रस्तुत किये जाने वाले कामों की संख्या निर्भर होती है। इसका अर्थ यह हुआ कि विद्यमान पूंजी-यन्त्रों के उपयोग की सीमा जो उपभोक्ता वस्तुओं एवं पूंजीगत माल की मांग की स्थिति पर निर्भर होती है (अर्थात जो उपभोग एवं विनियोग की मात्रा पर निर्भर होती है) रोजगार के स्तर को प्रमुख रूप से निर्धारित करेगी और यह है कि किसी भी

स्थिति मे (जैसे तकनीक, पू जी की मात्रा और प्राकृतिक साधनो की स्थिति मे) और मजदूरी का कोई निर्धारित स्तर होने पर, रोजगार के अनेक सम्भावित स्तर हो सकते है। इसके परिणामस्वरूप श्रम की किसी प्रकार की लोचपूर्ण माग-अनुसूची (elastic demand schedule) से सम्बन्धित ऐसे सरल विचार के प्रति सन्देह उत्पन्न हो सकता है, जो अपने इस *उपसिद्धात के साथ कि नकद मजदूरी के स्तर मे वृद्धि का परिणाम* निश्चय ही रोजगार मे कमी के रूप मे होगा, मजदूरी के परम्परागत सिद्धात का मूल अग रहा है। इसके अतिरिक्त, यह नवीन बल इस बात की सम्भावना अथवा सम्भाव्यता व्यक्त करता है कि यदि श्रम कुल आय के एक बडे भाग को प्राप्त करने मे सफल हो जाता है, तो यह तथ्य रोजगार के स्तर मे कमी करने के बजाय उसमे वास्तविक वृद्धि कर सकता है। इस विस्मयकारी निष्कर्ष का कारण यह है कि श्रमिक उन्हे प्राप्त होने वाली मजदूरी का लगभग समस्त भाग व्यय कर देते हैं (और इस प्रकार अनिवार्य व्यय के पश्चात् उसके पास कुछ नही बचता) जबकि धनिको द्वारा उनकी आय का पर्याप्त भाग बचाया जाता है। फलत. आय का धनिको से श्रमिका को हस्तान्तरण निर्धारित सकल आय मे से व्यय की जाने वाली राशि मे सम्भवत वृद्धि कर देगा और इसलिए वस्तुओ की माग तथा उन वस्तुओ के निर्माणार्थ श्रम की माग दोनो मे समान रूप से वृद्धि करेगा।

7. मजदूरी मे कितनी वृद्धि सम्भव है? · इस विवाद से आखिर क्या निष्कर्ष निकाला जा सकता है? जो एक बात इससे स्पष्ट होती है वह यह कि पुरातन अर्थशास्त्रियो का दृढ निराशावाद अब समाप्त हो चुका है। आर्थिक जगत् परस्पर प्रभावशील शक्तियो की एक अत्यन्त जटिल स्थिति हमारे समक्ष प्रस्तुत करता है जिससे हमे परम्परागत सिद्धातो से इसके बारे मे सुदृढ पूर्वकल्पना करने मे सहायता मिलती है। इस स्थिति का सम्बन्ध केवल ऐसे सतत परिवर्तन अथवा ऐसी गति से ही नही है जिसमे 'दीर्घकाल' एव 'सतुलन' पूर्ण होने से पूर्व ही कोई नवीन परिवर्तन आ टपकता है, किन्तु इसका सम्बन्ध उन परिवर्तनो से भी है जिन्हे इस दीर्घकाल तक पहुचने की प्रक्रिया उत्पन्न करती है और जो दीर्घकालीन प्रवृत्ति के इस स्वरूप को ही बदल देते है। यह केवल घडी के उस पेन्डुलम के *समान ही नही है जो सन्तुलन स्थिति मे स्थिर होने से पूर्व ही पुन. झटके के साथ* चलायमान हो जाता है, बल्कि इसकी तुलना पेन्डुलम के उस दोलन (Swing) से भी की जा सकती है जो कभी कभी इतना शक्तिशाली हो जाता है कि वह घडी की स्थिति को ही परिवर्तित कर देता है। परम्परागत दृष्टिकोण के विपरीत, मजदूरी-सिद्धान्त जैसा कि हम उससे अवगत है, अल्पकालीन (अथवा अल्प एव दीर्घ के बीच मध्यकालीन) पूर्वानुमानो के लिए अधिक उपयुक्त है, जबकि दीर्घकालीन पूर्वानुमानो के लिये भ्रान्तिपूर्ण मार्ग-दर्शक है। किन्तु अल्पकालीन दशाओ का निर्बाधावादी या निर्बन्ध सिद्धान्त की प्रमुख मान्यताओ से मेल नही बैठता।

तो क्या हम किसी ऐसे जड अज्ञेयवाद (agnosticism) की अवस्था मे पहुच चुके हैं कि जिसमे न तो कोई पूर्वानुमान ही सम्भव है और न कोई अववोधन ही ? क्या हम श्रम बाजार मे सघर्षशील शक्तियो की अव्यवस्थित कलाबाजी के सिवाय अन्य किसी स्वरूप का दर्शन नही कर सकते ? किसी सुदृढ निर्धारक दृष्टिकोण को अस्वीकार करते हुए भी हमे स्पष्टत इस प्रकार के सशयात्मक (sceptical) निष्कर्ष पर पहुचने की आवश्यकता नहीं है। हम ऐसे अनेक महत्वपूर्ण सम्बन्धो से अवगत हैं जो घटनाओ के स्वरूप को निर्देशित करते हैं तथा वास्तविक स्थितियो के यथार्थवादी एव साख्यिकीय अध्ययन की प्रगति के साथ-साथ जिसकी आज बहुत अधिक आवश्यकता है, हम उनकी सूक्ष्म प्रकृति के बारे मे और अधिक ज्ञान प्राप्त कर सकेंगे। किन्ही विशेष स्थितियो पर किन्ही विशेष अनुक्रमो के प्रभाव के बारे मे कम से कम अस्थायी या काम चलाऊ निष्कर्षो पर पहुचने का हमारे पास कुछ आधार है—उदाहरणार्थ, किसी उद्योग-विशेष मे मजदूरी के परिवर्तनो के कारण पडने वाले प्रभाव के बारे मे भले ही हम अ श से पूर्णता की ओर कम विश्वासपूर्वक अग्रसर हो सकें। किन्तु मजदूरी के सामान्य स्तर पर दीर्घकालीन दृष्टिकोण से विचार करने हुये भी हमे ज्ञात होगा कि मजदूरी का अनुक्रम सुनिश्चित सीमाओ के अन्दर ही परिसीमित रहेगा।

दूसरी ओर यह सम्भावना नही है कि सामान्य मजदूरी का स्तर निपट भौतिक निर्वाह स्तर से बहुत अधिक नीचे गिर जाय—और यह स्तर, जैसाकि हम देख चुके है, कोई अचल स्तर नही है, क्योकि निर्वाह की मात्रा कार्य की कठोरता अथवा तीव्रता पर आधारित होगी, यद्यपि बाहर से श्रम की नवीन पूर्ति की प्रचुरता की दशा मे (जैसे कि ग्रामीण जिलो अथवा विदेशो से आप्रवास के द्वारा) यह न्यूनतम स्तर अत्यन्त निम्न होगा और केवल वर्तमान अनिवार्य भौतिक आवश्यकताओ के लिए ही पर्याप्त हो सकेगा तथा सामान्य कार्यकारी जीवन को बनाये रखन अथवा एक परिवार का भरण-पोषण करने के लिए वह पर्याप्त नहीं हो सकगा। द्वितीय अध्याय मे उद्धरित आकडो से यह धारणा बनाई जा सकती है कि कम-से-कम हाल के वर्षों म मजदूरी औसतन इस अनिवार्य भौतिक सीमा से अधिक ऊपर नही थी (और अनेक दशाओ मे तो इससे नीचे थी) तथा विभिन्न देशो के बीच इनमे अन्तर विभिन्न निर्वाह स्तर के लिए अपेक्षित कार्य की तीव्रता के अन्तर के अनुरूप थे।

मजदूरी की ऊपरी सीमा की परिभाषा देना अधिक कठिन प्रतीत होन है। प्रारम्भ मे ऐसा प्रतीत होता है कि इस सीमा की परिभाषा इस कथन से होती है कि मजदूरी मे इतनी अधिक वृद्धि नहीं हो सकती कि उनमे पूंजीपतियो को अतिरिक्त उत्पत्ति मे से प्राप्त होने वाले उस भाग से भी अधिक व्यय करना

पडे जो उनके द्वारा वर्तमान मे व्यय होता है, क्योकि यदि मजदूरी मे इससे अधिक व्यय किया जाय तो इससे पू जी की पूर्ति मे कमी हो जायगी। यदि समस्त उत्पादन एव विनियोग का नियन्त्रण राज्य द्वारा हस्तगत कर लिया जाय तो निश्चय ही कुल उत्पत्ति मे मजदूरी का भाग इस सीमा तक अधिक हो सकता है। किन्तु फिर भी इसका यह अर्थ नही होगा कि समस्त शुद्ध उत्पत्ति का प्रयोग मजदूरी मे ही कर लिया जायगा—क्योकि ऐसा तो तभी हो सकता है जब पू जी के वर्तमान स्टॉक को बढाने के लिए कोई नवीन विनियोग न करने हो। कम-से-कम नये विनियोगो की सीमा तक समुदाय के पदार्थो और उनकी मानव-शक्ति के एक भाग का उपयोग आय प्राप्त करने वालो द्वारा क्रय किये जाने के लिए उपभोक्ता-वस्तुओ के निर्माण के बजाय, नवीन कारखानो की स्थापना तथा नवीन मशीनो के निर्माण और उनके स्थापन के लिए ही किया जायगा। उपभोक्ता पदार्थ तो मजदूरी के रूप मे क्रय-शक्ति प्रदान करने के लिये उपलब्ध होगे और परिणामस्वरूप राष्ट्र के कुल मजदूरी बिल के वास्तविक मूल्य की मात्रा श्रम द्वारा उत्पादित समस्त वस्तुओ के (शुद्ध) मूल्य के एक भाग के बराबर ही होगी।

यह भी सत्य है एव महत्वपूर्ण भी कि अर्थव्यवस्था मे अप्रयुक्त उत्पादन क्षमता काफी मात्रा मे सचित होती है, तो कुल उत्पत्ति और सकल वास्तविक मजदूरी की आय, दोनो को इसके द्वारा बढाया जा सकता है—यह वृद्धि "निष्क्रियता को सक्रियता मे बदलने" और पहले से अप्रयुक्त अथवा कम प्रयुक्त मानव-शक्ति एव साधनो को उत्पादनशील बनाने वाले उपायो के द्वारा की जा सकती है।

किन्तु पू जीवादी प्रणाली मे जहा उत्पादन एव विनियोग निजी मालिको के नियन्त्रण मे होता है, यह कहना असगत होगा कि मजदूरी के भाग मे वृद्धि की सीमा कुल आय के उस भाग तक ही सीमित होती है जो सामान्यत विनियोजित था। व्यवहार मे, इन दशाओ के अन्तर्गत मजदूरी की ऊपर की ओर गति की कोई वास्तविक सीमा स्पष्टतया इससे नीची होती है। इस परिसीमा की परिभाषा का सम्बन्ध आर्थिक सिद्धान्त की अपेक्षा कदाचित राजनीति और सामाजिक मनोविज्ञान से अधिक है। इस तथ्य का पहले ही उल्लेख किया जा चुका है कि वास्तविक मजदूरी मे वृद्धि की बहुत कुछ सम्भावना इस बात पर निर्भर होती है कि पू जीपति वर्ग व परम्परागत उपभोग के स्तर पर इसकी क्या प्रतिक्रिया होती है। एक बार अपना लिये जाने के बाद ये परम्परागत स्तर ऊपर की ओर बढने मे जितनी शीघ्रता दिखलाते हैं, उससे कही अधिक शिथिलता ये नीचे की ओर गिरने मे प्रदर्शित करते हैं—जब तक कि युद्ध अथवा क्रान्ति के रूप मे कोई इन्कलाब ही न घटित हो जाय। देहाती घरो एव नौकरो तथा बजर क्षेत्रो मे पाये जाने वाले तीतरो (*Grouse-moors*) की आदतो का निर्माण जितनी शीघ्रता से हो जाता

है उनका परित्याग करते समय उतनी ही शिथिलता दिखाई देती है। सम्पन्नता के काल मे जबकि उद्योग की सकल उत्पत्ति मे वृद्धि हो रही हो यदि श्रमिको का सगठन सुदृढ है तो वे अपनी मजदूरी को समग्र एव सापेक्ष दोनो तरह से पूंजीपतियो को प्राप्त होने वाले भाग के समान वृद्धि करवा सकने की उत्तग स्थिति मे होते हैं। यदि उनका सगठन पर्याप्त रूप मे सुदृढ हो, तो सम्भवत आर्थिक विकास के लगभग समस्त फल को अपने लिए सुरक्षित करवा सकते है, यद्यपि जैसाकि पहले हम देख चुके हैं यह बहुत कुछ इस बात पर निर्भर है कि एकाधिकार की शक्ति के आधिपत्य एव शोषण के द्वारा नियोक्ता नकद मजदूरी मे वृद्धि के लिए डाले जाने वाले दबाव को मजदूरी–वस्तुओ (wage–goods) के ऊचे मूल्यो में बदलने मे और इस प्रकार वास्तविक मजदूरी मे वृद्धि मे प्रयत्नो को निष्फल करने मे कहा तक सफल हो सकते है। किन्तु कम सम्पन्नता के समय मे जबकि उद्योग की सकल उत्पत्ति स्थिर हो अथवा अत्यन्त मन्द गति से बढ रही हो तो उनका सगठन सुदृढ होने पर भी श्रम सघो की शक्ति व्यवहार मे कही अधिक सीमित प्रतीत होती है। अत इन परिस्थितियो मे आय की अन्य मदो को हानि पहुचा कर मजदूरी मे वृद्धि के लिए किये जाने वाले प्रयत्नो का तीव्र प्रतिरोध होगा और पूंजीपति शीघ्र ही अपने उपभोग के स्तर को घटाने की अपेक्षा अपने विनियोगो मे कदाचित कमी कर देंगे तथा फर्मों द्वारा श्रम की बचत करने वाली मशीनो के प्रतिस्थापन द्वारा यथासम्भव श्रम की अधिकतम किफायत करने के प्रयत्न किये जायेंगे।[1] इसके अतिरिक्त वस्तुत: 'पूंजी की हड़ताल' के अन्य कौतुकपूर्ण मार्ग अपनाये जा सकते हैं। यद्यपि जहा तक श्रम सघो द्वारा किये जाने वाली कार्यवाही एकाधिकार की मात्रा को कम करने की क्षमता रखती है, श्रमिक उस दर को, जिस पर वे अपने श्रम का आय से बदला करते हैं, सुधारने मे और कुछ उत्पत्ति मे श्रम के सापेक्ष भाग को बढाने मे सफल हो सकते हैं, किन्तु इन परिस्थितियो मे अपनी कुल आय को बढवाने मे उनकी शक्ति कदाचित बहुत अधिक नहीं हो सकती जब तक कि स्वय अर्थव्यवस्था मे ही अधिक व्यापक रूप से सस्थागत परिवर्तन न किये जाय।

---

1 मजदूरी की वृद्धि वास्तव में मशीन की लागत व इसके द्वारा विस्थापित किये जाने वाले श्रम की लागत में वृद्धि कर देगी। लेकिन इस बात का निर्णय कि क्या वस्तुत: फर्मों को श्रम के बदले में मशीनें प्रतिस्थापित करने की प्रेरणा होगी, इस बात पर निर्भर करेगा (जैसा कि ऊपर अध्याय IV में परिच्छेद 10 में बतलाया जा चुका है) कि क्या साथ में ब्याज की दर में भी गिरावट आई है। सम्भवत इसमें गिरावट न आवे, इस तथ्य की वजह से मजदूरी की वृद्धि में इस तरह की प्रतिक्रिया की सम्भावना, पहले जितनी मान ली जाती थी, उससे कम ही प्रतीत होती है।

मज़दूरी की असमानतायें | 6

1. श्रेणियो के बीच असमानतायें (Differences between grades)—अब तक हमने समुदाय की कुल मजदूरी के आकार और मजदूरी के औसतन सामान्य स्तर पर विचार किया है और हमने उन भारी असमानताओ की ओर ध्यान नही दिया है जो प्रति घण्टे और प्रति उजरत दोनों प्रकार की मजदूरी की विभिन्न श्रेणियो के श्रमिको के तथा एक ही देश के अन्दर विभिन्न जिलो या उद्योगों के और साथ ही विश्व के विभिन्न राष्ट्रो के बीच मे दृष्टिगोचर होती है। किन्तु मजदूरी के सिद्धान्त के आधे भाग (जो कि गौण होते हुए भी महत्वपूर्ण हैं) का सम्बन्ध सदैव मजदूरी की असमानताओ के कारणो से रहा है और मजदूरी नियमन की व्यावहारिक समस्या मे विशिष्ट मजदूरी का प्रश्न प्रमुख स्थान रखता है।

प्रथम अध्याय मे हम देख चुके हैं कि प्रत्येक को यथार्थत (और नाम मात्र रूप में) इच्छानुसार व्यवसाय चुनने का समान विकल्प तभी दिया जा सकता है जबकि अर्थव्यवस्था के वर्तमान स्वरूप मे आमूल परिवर्तन कर दिया जाय। फिर भी कल्पना कीजिए कि आय के अन्य वर्गो को प्रथक रखते हुए, मजदूरी वाले व्यवसायो की श्रेणी मे विकल्प की इस समानता को स्थान प्राप्त है और प्रत्येक को इच्छानुसार किसी भी रोजगार को चुनने का लगभग समान अवसर प्राप्त होता है। ऐसी दशा मे यह आशा नही की जायगी कि मजदूरी की दरें सर्वत्र समान रहेगी—उनमे अनेक स्पष्ट एव सुनिश्चित कारणों से असमानता होगी। किन्तु

उनमें केवल इतनी असमानता की अपेक्षा की जायगी कि जिसमें विभिन्न व्यवसायों के बीच "लाभ हानि" (जैसा एडम स्मिथ ने सम्बोधित किया) में समता स्थापित हो जाए। एक व्यवसाय से दूसरे व्यवसाय में श्रम की गतिशीलता के कारण समान विशुद्ध लाभ के इस सिद्धान्त (The Principle of Equal Net Advantages) की अनुभूति उसी भाँति होगी जिस प्रकार की नलकी जुड़े हुए दो हौजों के जल-स्तर में समानता हो जाती है। प्राप्त होने वाली मजदूरी समेत इसके समस्त लाभ हानि का लेखा-जोखा करने के पश्चात् यदि एक व्यवसाय दूसरे से अधिक लाभदायक प्रतीत होता है तो श्रमिक एक को छोड़कर दूसरे की ओर उस समय तक आकर्षित होते रहेंगे जब तक कि पूर्ति में यह परिवर्तन सापेक्ष मजदूरी के स्तरों में परिवर्तन करके दोनों व्यवसायों के शुद्ध लाभों को बराबर नहीं कर देता। उसके बाद मजदूरी में अन्तर केवल विभिन्न व्यवसायों की लागत अथवा उनकी अरुचिकरता (disagreeableness) की असमानता के बराबर होगा। एडम स्मिथ के ही शब्दों में "एक ही स्थान में श्रम और पूंजी के विभिन्न उपयोगों के सम्पूर्ण लाभ अथवा उनकी सम्पूर्ण हानि में या तो पूर्णतः समानता होगी अथवा उनमें समानता की ओर बढ़ने की प्रवृत्ति होगी। यदि एक ही क्षेत्र में कोई रोजगार अन्यों की अपेक्षा स्पष्टतः अधिक या कम लाभदायक होता है तो पहली दशा में इसकी ओर इतने अधिक व्यक्ति आकर्षित होंगे अथवा दूसरी दशा में इतने अधिक व्यक्ति इसका परित्याग कर देंगे कि इसके लाभ अन्य व्यवसायों के स्तर के बराबर हो जायेंगे।[1]

उदाहरणार्थ आरम्भ में यह अपेक्षा की जायगी कि लोग अरुचिकर एवं अधिक खतरनाक व्यवसायों से बचेंगे जैसे कि गंदे पानी का निष्कासन अथवा कोयला खोदने का कार्य—जब तक कि ऐसे व्यवसायों में अन्य व्यवसायों की अपेक्षा मजदूरी का स्तर इतना ऊंचा न हो कि इस अनिश्चित अरुचिकरता अथवा खतरे की पूर्ति की जा सके। गंदे पानी के निष्कासन अथवा कोयला खनन के प्रति इस सामान्य अरुचि का परिणाम यह होगा कि ऐसे व्यवसायों में रोजगार चाहने वाले व्यक्तियों की संख्या दूसरे व्यवसायों की अपेक्षा कम हो जायगी, और यह कमी उनमें मजदूरी की वृद्धि का कारण बनेगी। बेरोजगारी अथवा आय की व्यापक अनिश्चितता की अधिक सम्भावनाओं वाले व्यवसाय में भी इसी प्रकार की दशायें लागू होंगी। दूसरी ओर यदि कुछ व्यवसाय विशेष रूप से आनन्ददायक अथवा रुचिकर होते हैं, अथवा यदि वे विशेष सामाजिक सम्मान या प्रतिष्ठा के प्रतीक माने जाते हैं, अथवा यदि उनमें विशेष रियायतें या पदोन्नति के अवसर होते हैं तो ऐसे व्यवसायों के प्रति सर्व साधारण की पसन्द के कारण रोजगार के आवेदकों की बाढ़ आ जायगी और अन्य व्यवसायों की अपेक्षा इसमें श्रम अधिक सस्ता हो जायगा।

---

1 वेल्थ आव नेशन्स 1826 का संस्करण, पृ० 99

द्वितीय, लोग ऐसे व्यवसायो से बचना चाहेंगे जिनमे अधिक महगी शिक्षा या प्रशिक्षण की आवश्यकता होती है अथवा जिनमे अवैतनिक अस्थाई सेवा अथवा शिशिक्षुता या अप्रेन्टिसी की अवधि लम्बी होती है और इस कारण ऐसे व्यवसायो मे मजदूरी मे उस समय तक वृद्धि की प्रवृत्ति रहेगी जब तक कि वे अन्यत्र की अपेक्षा उच्चतर न हो जॉय। प्रारम्भिक प्रशिक्षण पर होने वाले व्यय एक प्रकार का ऐसा पू जीगत व्यय होगा जो केवल उसी दशा मे वहन किया जायगा जबकि भविष्य मे अधिक उच्च आय की सम्भावनायें हो।

ऐसे व्यवसायो मे जिनमे प्रकृति प्रदत्त गुणो की आवश्यकता होती है जैसे कि विदूषक या मजाकिया का पार्ट करने वाले अथवा ओपेरा गायक अथवा मीनार की मरम्मत करने वाले व्यक्तियो के कार्य के लिए उपयुक्त सीमित व्यक्तियो की सेवा को प्राप्त करने के लिए होने वाली कडी प्रतियोगिता के कारण यह अपेक्षा की जायगी कि असाधारण रूप मे ऊचे वेतन दिये जाय। किन्तु इस दशा मे विशिष्ट कृपापात्र व्यक्तियो को अधिक वेतन इसलिए नही प्राप्त होगा कि उससे उनके व्यवसाय की किसी अतिरिक्त हानि की क्षतिपूर्ति होती है, किन्तु इसलिए प्राप्त होगा क्योंकि उनकी स्थिति ऐसी विशिष्ट होती है जिसमे (एडम स्मिथ की शब्दावली में) अन्य धन्धो की अपेक्षा उनके व्यवसाय के कारण उन्हे प्राप्त होने वाला लाभ अधिक होता है और यह माना जा सकता है कि वे एक दुर्लभ प्राकृतिक गुण का एक असामान्य किस्म का 'दुर्लभता-मूल्य' अथवा 'लगान' प्राप्त कर रहे हैं। हम वास्तव मे जिस प्रणाली मे रहते हैं उसके अन्तगत "विशुद्ध लाभो की समानता" उपलब्ध नही होती (अर्थात् सम्पत्ति से होने वाली आय मे तो इसका प्रश्न ही नही उत्पन्न होता, किन्तु श्रम से प्राप्त होने वाली आय मे भी यह नही प्राप्त होती)। इसके अतिरिक्त विभिन्न व्यवसायो के हानि लाभो की तुलना मे मजदूरी की असमानताओ की मात्रा उससे कही अधिक हो जाती हैं जितनी हमारे द्वारा उल्लिखित अन्तिम कारण को देखते हुए उचित हो सकती है। वास्तव मे मजदूरी की असमानताओ का इससे इतना अधिक मतभेद होता है कि इससे यह निष्कर्ष नहीं निकाला जा सकता है कि हमारी वर्तमान मजदूरी-प्रणाली मे मजदूरी की प्रमुख असमानताओ का यह कोई स्पष्टीकरण है। समाज के अरुचिकर कार्यों के लिए सबसे ऊची मजदूरी की व्यवस्था के स्थान पर सबसे नीची मजदूरी की व्यवस्था पाई जाती है और यह दशा अधिकतर उन व्यवसायो मे भी होती है जिनमे स्वास्थ्य और जीवन के लिए अधिक खतरा रहता है। नीची मजदूरी के साथ सामान्यतया रोजगार का उतार-चढाव एव अस्थिरता भी पाई जाती है और प्रारम्भिक प्रशिक्षण मे व्यय की गई पू जी के ब्याज के औचित्य की तुलना मे दक्ष व्यवसायो एव प्रशिक्षित धन्धो म आय का स्तर सामान्यत कही ऊचा होता है। यह सुझाव दिया गया है कि यदि पूर्ण रोजगार को बनाये रखने की नीति को सफलतापूर्वक लागू किया

जाता है, तो इसका एक परिणाम विभिन्न व्यवसायों की सापेक्ष आय में आमूल परिवर्तन के रूप में होगा क्योंकि यदि रोजगार के अवसरों में उतनी ही प्रचुरता होती जितनी कि काम खोजने वाले व्यक्तियों की होती है तो लोग उस समय तक अरुचिकर एवं खतरनाक कामों में बचते रहेंगे जब तक कि रिक्त स्थानों की पूर्ति के उद्देश्यों से पर्याप्त श्रम की व्यवस्था करने के लिए नियोक्ताओं में होने वाली प्रतियोगिता उनकी मजदूरी में पहले की अपेक्षा कई गुनी वृद्धि नहीं कर देती। द्वितीय विश्व युद्ध के उपरान्त उत्पन्न कोयला खनिकों की भारी कमी से इस सम्भावना की पुष्टि होती है। बेरोजगारी से रहित एवं अवसर की समानता प्रदान करने वाले समाज में कोयला खनिकों, ढलाई के कारखानों में काम करने वाले एवं मैला ढोने वाले श्रमिकों की गणना सर्वोत्तम मजदूरी पाने वाले व्यक्तियों में, तथा आरामदायक कारखानों में बैठकर काम करने वाले कर्मचारियों की गणना न्यूनतम पारिश्रमिक पाने वालों में हो सकती है। हाथ के द्वारा किये जाने वाले अस्वच्छ या गन्दे कार्यों में न केवल ऊंचा वेतन होता है बल्कि ऊंची सामाजिक प्रतिष्ठा भी हो सकती है, जबकि साफ सुथरे कामों की गिनती ऐसे "मुलायम विकल्प" (soft option) में हो सकती है जिनमें पारितोषिक अपेक्षाकृत न्यून होता है। कुछ भी हो, हमारी मजदूरी-असमानताओं की वर्तमान अस्त व्यस्त स्थिति के लिए समान विशुद्ध लाभों के सिद्धान्त के अतिरिक्त स्पष्टतः किसी अन्य स्पष्टीकरण की आवश्यकता है।

2 "अप्रतियोगी समूह" (Non-Competing Groups) —यदि हम इस कृत्रिम मान्यता को छोड देते हैं कि प्रत्येक श्रमिक को किसी भी व्यवसाय में प्रवेश करने का समान अवसर प्राप्त है तो हमें यह अन्य स्पष्टीकरण प्राप्त हो जाता है। किन्तु यथार्थ में ऐसा होता नहीं है। इसका मुख्य कारण यह है कि एक ऐसे जगत् में जहां किसी व्यवसाय के प्रशिक्षण की लागत एक ऐसा व्यवसाय है जिसकी व्यवस्था व्यक्तिगत श्रमिक को अपनी जेब से करनी होती है, एक बार स्थापित हो जाने वाली आय की असमानताओं में स्थायित्व की प्रवृत्ति दिखाई देती है। जिन्हें ऊंची आय प्राप्त होती है और इसके साथ ही यदि उनके पास बचत का कुछ कोष होता है, तो वे अपने बच्चों को दक्ष व्यवसाय में प्रविष्ट करवाने के उद्देश्य से प्रशिक्षण एवं शिशिक्षुता की लागत का भार भली प्रकार उठा सकेंगे, जबकि एक अदक्ष श्रमिक जो अपने परिवार का पोषण भी कठिनता से कर पाता है, इस भार को उठाने में सर्वथा असमर्थ होगा। एक साधारणतः सम्पन्न अदक्ष श्रम वाले परिवार में सबसे वरिष्ठ पुत्र को किसी दक्ष व्यवसाय का प्रशिक्षण प्रदान करने का प्रयत्न किया जाता है। किन्तु इससे अधिक वह परिवार कुछ नहीं कर सकता और एक बार यह प्रयास पूर्ण होने के उपरान्त दूसरे छोटे बच्चों को स्कूल छोडते ही प्रायः तत्काल आय प्रदान करने वाला कोई भी कार्य करने के लिए बाध्य होना

पडता है।[1] इसी तथ्य के कारण श्रम की विभिन्न श्रेणियो की पूर्ति की दशायें उन श्रेणियो मे व्याप्त मजदूरी की असमानताओ से इतनी अधिक प्रभावित हो जाती हैं कि एक श्रेणी की तुलना मे दूसरी श्रेणी मे "उचित" या 'सामान्य" मजदूरी की चर्चा का प्रयत्न करना एक चक्राकार तर्क (argument in a circle) प्रस्तुत करता है। यहा तक कि यह एक विरोधाभासी परिणाम इस रूप मे उत्पन्न कर सकता है कि दक्ष एव अदक्ष मजदूरी के बीच अन्तर मे कमी (यदि इससे अदक्ष मजदूरी मे वृद्धि होती है वस्तुत अदक्ष श्रम की पूर्ति में वृद्धि करेगी और इस प्रकार यह इस अन्तर मे और अधिक कमी कर देगी। कथित 'मध्यवर्गीय व्यवसायो" में यह प्रभाव विशेष रूप से प्रबल होगा क्योंकि इस दशा मे वकीलो या डाक्टरो अथवा विश्वविद्यालय के प्राध्यापको की सम्भाव्य पूर्ति छात्रवृत्तियो एव दान कार्यों को छोडकर) लगभग ऐसे बच्चो तक ही सीमित होगी जिनके माता पिता की आय शारीरिक श्रमिको के आय स्तर से अधिक होती हैं। इस प्रकार इन व्यवसायो में प्रवेश लेने वालो की पूर्ति विशेषत सीमित होगी और इस सीमा के कारण आय के स्तर मे वृद्धि हो जायेगी। दूसरी ओर एक गोदी–कर्मचारी अथवा नौसैनिक की भाति कार्य करने के लिए सामान्य शारीरिक शक्ति से कुछ अधिक शक्ति की अपेक्षा होती है, और इसलिए इन रोजगारो में उपलब्ध पूर्ति प्रचुर एव सस्ती होती है। प्रोफेसर टॉजिग ने सुझाव दिया है कि पाच स्पष्ट श्रेणिया की जा सकती हैं और निम्न श्रेणी से ऊची श्रेणी तक पहुचने के मार्ग विभिन्न परिस्थितियो के कारण विशेष बाधाओं से परिपूर्ण होते हैं। उच्च श्रेणियो को उनके द्वारा (केरनीज के आधार पर) 'अप्रतियोगी समूहो" की सज्ञा दी गई है–अर्थात् ऐसे समूह जिनमे बाहरी व्यक्तियो के प्रवेश पर लगे प्रतिबन्धो के कारण पूर्ति विशेष रूप से सीमित होती है। और चू कि इन व्यवसाय–समूहों के लिए उपलब्ध व्यक्तियो की पूर्ति सीमित होती है और उनकी सेवाओ के मूल्य में वृद्धि की प्रवृत्ति दृष्टिगोचर होती है। उनके द्वारा जिन श्रेणियो मे अन्तर किया गया है वे हैं—प्रथम, सामान्य श्रमिक जैसे अदक्ष श्रमिक, द्वितीय, अर्ध दक्ष श्रमिक, तृतीय दक्ष शिल्पी, जैसे मिस्त्री, फिटर, इजन–ड्राइवर, ईट बनाने वाले, चतुर्थ, क्लर्कों का कार्य करने वाले कर्मचारी पचम, विभिन्न 'मध्यवर्गीय धन्धे"। इस अन्तिम श्रेणी की विशेष लाभ की स्थिति वास्तव मे इतनी ऊची होती है कि इसे श्रमिकों के वर्ग में सम्मिलित न करके (जैसाकि प्रथम अध्याय मे परिभाषित किया गया) इसे विशिष्ट श्रेणी में रखना ही उचित होगा।

यदि किसी व्यवसाय मे नवीन व्यक्तियो के प्रवेश पर कानून या प्रथा के द्वारा अथवा किसी सघ नियमनो द्वारा कृत्रिम प्रतिबन्ध लगा दिये जाते हैं, तो

---

1 देखिए ई एच लेविस, दि चाल्ड्रन आव दी अनस्किल्ड, पृष्ठ 15–16

किसी विशिष्ट श्रेणी द्वारा प्राप्त की जाने वाली विशेष आय में और अधिक वृद्धि हो जायगी, क्योंकि ये प्रतिबन्ध इस धन्धे के सदस्यों में रोजगार के लिए प्रतियोगिता करने योग्य व्यक्तियों की संख्या को और अधिक सीमित कर देंगे। मध्ययुगीय व्यावसायिक संघों में, कम से कम उनके अन्तिम काल में, अपने सदस्यों के लिये प्रवेश-योग्यतायें निर्धारित करके पारस्परिक प्रतियोगिता को सीमित करने की प्रथा थी और उनमें से कुछ अधिक शक्तिशाली संघों की स्थिति अन्ततः इतनी विशिष्ट हो जाती थी कि उनके द्वारा लिया जाने वाला प्रवेश-शुल्क सैकड़ों पौंड होता था। पिछली शताब्दी में दक्ष कारीगरों के कुछ श्रमिक संघों (देखिए अध्याय 7) ने उनके धन्धे में प्रवेश को सीमित कर दिया और यह सीमा-शिक्षुता के प्रति कठोर नियमों के रूप में आज भी विद्यमान है। वकीलों के "प्रवेश" (solicitor's articles) से सम्बन्ध न्यायालय शुल्क लेने की प्रथायें, तथा किसी फ्राइनियं के धन्धे में अंश प्राप्त करने के मूल्य का प्रभाव भी इसी प्रकार का होता है, जबकि कुछ व्यवसाय अपने सदस्यों का चुनाव केवल उन व्यक्तियों तक ही सीमित रखते हैं जिनकी शिक्षा किन्हीं चुने हुये पब्लिक स्कूलों में हुई हो तथा अन्य कुछ व्यवसाय सामाजिक आचरण एवं वाक्शक्ति के एक निर्धारित स्तर की अपेक्षा करते हैं।

किन्तु विद्यमान मजदूरी की असमानतायें प्रशिक्षण के व्यय को वहन कर सकने योग्य व्यक्तियों की संख्या पर प्रभाव के द्वारा केवल विभिन्न श्रेणियों में श्रम की पूर्ति को ही प्रभावित नहीं करतीं, बल्कि किसी धन्धे की रुचिकरता अथवा अरुचिकरता के विषय में परम्परागत विचारों को प्रभावित करके भी वे ऐसा कर सकती हैं। कदाचित मजदूरी की असमानतायें स्वयं ऐसी परम्पराओं पर कम प्रभाव डालती है जो स्वयं मुख्यतः विभिन्न वर्गों के बीच व्यापक असमानताओं के कारण उत्पन्न होती हैं। कुछ भी हो, वर्गयुक्त समाज में यह एक स्पष्ट प्रवृत्ति होती है कि ऐसे व्यवसायों को जिनमें न्यून वेतन की परिपाटी होती है, अरुचिकर समझा जाता है और अधिक आय वाले व्यवसायों को सामाजिक दृष्टि से अधिक प्रतिष्ठित एवं सम्माननीय समझा जाता है। इस प्रभाव का परिणाम श्रम की "ऊर्ध्वाकार या उदग्र गतिशीलता (upward mobility) में वृद्धि के रूप में होगा, तथा इससे व्यक्तियों में स्वयं पर्याप्त त्याग करके भी उच्च श्रेणियों में प्रवेश करने की अभिलाषा जाग्रत होगी, किन्तु हमारे द्वारा उल्लिखित अन्य कारण इस प्रभाव को प्रायः दबा देते हैं। फिर भी इससे यह स्पष्टीकरण प्राप्त हो सकता है कि शारीरिक श्रमिकों की श्रेणियों से ठीक ऊपर के कुछ ऐसे व्यवसायों में जिनमें सामान्य प्रशिक्षण लागत की अपेक्षा होती है, प्रवेशार्थियों की इतनी अधिक बाढ़ दिखलाई देती है कि अनेक दशाओं में उनकी मजदूरी बहुत से दक्ष शारीरिक श्रमिकों की मजदूरी से भी कम हो जाती है—जैसे क्लर्क एवं अध्यापकों की होती

है, तथा यह भी ज्ञात हो सकता है कि इस दशा में आशा से अधिक "ऊर्ध्वाकार गतिशीलता" क्यों पाई जाती है।

3. उद्योगवार एवं जिलेवार असमानताएं:—श्रम की विभिन्न श्रेणियो के मध्य केवल क्षैतिज गतिशीलता के मार्ग मे ही नही, परन्तु विभिन्न उद्योगो अथवा विभिन्न स्थानो के मध्य ऊर्ध्वाकार या उदग्र गतिशीलता के मार्ग में भी बाधायें हो सकती है और इसके कारण विभिन्न उद्योगों एवं स्थानो के बीच मजदूरी मे *"अनौचित्य" (अर्थशास्त्रियों की शब्दावली मे) उत्पन्न हो जायगा*—ऐसा अनौचित्य विशुद्ध सापेक्ष अर्थ में इस प्रकार का होगा कि किसी स्थान पर श्रम को दी जाने वाली मजदूरी अन्य स्थान पर समान दक्षता और कुशलता वाले श्रम की मजदूरी की तुलना में कम (या अधिक) हो जायगी। ये बाधायें अन्य नगरो या उद्योगों मे रिक्त स्थानों की सूचना से अनभिज्ञता के रूप मे, अथवा किसी सुदूर स्थान पर आवास एवं परिवार दोनो को स्थानान्तरित करने के साधनो के अभाव के रूप मे अथवा *"निकट या सुदूर भविष्य के प्रति अत्यधिक आशावाद के सहारे"* अनेक कारणो से किसी सुपरिचित व्यवसाय का परित्याग करने के प्रति अनिच्छा के रूप में हो सकती है। प्रायः यह कहा जाता है कि पिछले वर्षों में हुई मकानों की कमी ने एक स्थान से दूसरे स्थान पर श्रम की गतिशीलता मे बहुत अधिक कमी कर दी है, क्योंकि एक ऐसा श्रमिक जिसके पास रहने के लिए मकान या कमरे हैं, अन्यत्र निवासहीनता (Homelessness) की सम्भावना के कारण उनके परित्याग के लिए तत्पर नही होगा। *यदि इनमे से किसी भी कारण से गतिशीलता में शिथिलता उत्पन्न हो जाती है तो ऐसी दशा मे कुछ नगरो या उद्योगो मे एक ओर तो श्रम की अपेक्षाकृत प्रचुरता होगी और दूसरी ओर उसी समय अन्य उद्योगों या नगरो मे श्रम दुर्लभ होगा,* और इस कारण से प्रथम दशा में मजदूरी में कमी तथा दूसरी दशा म इसमें वृद्धि उस समय होती रहेगी जब तक कि दोनों के मध्य श्रमिकों के आवागमन को प्रोत्साहन देने के लिए दोनो के बीच का अन्तर पर्याप्त बड़ा है। यह भी हो सकता है कि जब दो धन्धों या स्थानों के मध्य श्रमिको का आवागमन कम होने पर उस पूर्ति-मूल्य में भी पर्याप्त भिन्नता होगी जिस पर श्रमिक अपना श्रम प्रदान करने के लिए उद्यत हैं, और इस प्रकार उन स्थानो पर मजदूरी का स्तर कम होगा जहां प्रथानुसार अथवा निर्धनता के कारण किसी कार्य को करने की इच्छा और उसके बदले में अपेक्षित त्याग के संदर्भ में मौद्रिक आय का मूल्यांकन अधिक किया जाता है। उदाहरण के लिए, कृषि में मजदूरी की सापेक्ष न्यूनता का प्रमुख कारण अपने भाग्य को सुधारने के लिए शहरों की ओर जाने के प्रति ग्रामीणों की मन्दगति या सुस्ती है।

जहां तक कि आवागमन की इन बाधाओं के भौगोलिक स्वरूप का प्रश्न है, एक ही उद्योग में विभिन्न जिलों में—जैसे विभिन्न कोयला क्षेत्रो अथवा उत्तरी

या दक्षिणी कृषि-क्षेत्रों में—समान कार्य के लिए मजदूरी में असमानतायें उत्पन्न होना उतना ही स्वाभाविक है जितना कि विभिन्न ऐसे उद्योगों में जो पृथक रूप से स्थानीयकृत हैं। जहा तक इन बाधाओं के व्यावसायिक स्वरूप का प्रश्न है, एक ही नगर में भी विभिन्न व्यवसायों के मध्य मजदूरी में असमानतायें उसी प्रकार हो सकती है जिस प्रकार कि 'सरक्षित" (sheltered) और "असरक्षित" (unsheltered) व्यवसायो (जिनका उल्लेख अध्याय 2 में किया गया था) में होती है। युद्धों के बीच के समय में श्रमिकों में साउथ वेल्स की खनिज प्रधान घाटियों की दुर्दशा से दूर दक्षिणी इगलैंड में अधिक वेतन पाने वाले गृह-निर्माण अथवा परिवहन श्रमिकों के रूप में, अथवा जहाज–निर्माण व्यवसाय छोड़कर अधिक वेतन प्रदान करने वाले समीपवर्ती व्यवसायों में चले जाने की केवल सीमित प्रवृति ही थी। पूर्वोल्लिखित कारणों के अतिरिक्त ऐसा होने का प्रमुख कारण यह हो सकता है कि आज, जबकि मजदूरी का निर्धारण श्रमिक-सघों द्वारा किये जाने वाले समझौतों द्वारा किया जाता है, इस बात की सम्भावना कम है कि श्रमिक पहले से काम पर लगे हुए श्रमिकों की काट करने के लिए सस्ती दर पर अपने श्रम को प्रस्तुत करेंगे और कदाचित यह भी सही है कि श्रमिक अपने जन्म-स्थान एव व्यवसाय मे गिरती हुई मजदूरी एव बेरोजगारी के कठोर दबाव की अपेक्षा विकासशील व्यवसायों में नवीन अवसरों एव बढ़ती हुई मजदूरी के प्रति अधिक आकर्षित होंगे। दूसरे शब्दों मे, यह कहा जा सकता है कि श्रम की गति-शीलता गिरते हुए श्रम-बाजार की अपेक्षा बढ़ते हुए श्रम-बाजार मे कदाचित अधिक होती है।

4. "आकस्मिक" या "अस्थायी" रोजगार (Casual Employment) -- यदि किसी ऐसे पुराने व्यवसाय मे, जिसमे अब वस्तुत: श्रमिकों की पहले के समान सख्या को स्थायी रोजगार प्रदान करने के लिए पर्याप्त कार्य उपलब्ध नही है, किसी कारण से भविष्य मे "कुछ हो जाने" की आशा को प्रोत्साहन मिलता है तो ऐसी दशा मे श्रम की अगतिशीलता मे सम्भवत वृद्धि हो जायगी। और भविष्य मे "कुछ होने" की आशा जो व्यक्तियों को, बजाय इसके कि वे अन्यत्र अधिक उत्तम सम्भावनाओं की खोज करें, उसी व्यवसाय से चिपके रहने को विवश करेगी, तथा नियोक्ताओं द्वारा काम पर लगाये रखने के लिए प्रयुक्त तरीकों से बहुत अधिक प्रभावित हो जायगी। यदि कोई नियोक्ता अपने कारखाने मे "श्रमिकों" की एक ऐसी सख्या नियुक्त करता है जिसे वह प्रति सप्ताह निरन्तर बनाये रखता है और कुछ विशिष्ट कारण होने पर ही उसमे फेर-बदल करता है, तो काम से अलग किया जाने वाला श्रमिक इस तथ्य से अवगत होगा कि फिलहाल उसके समक्ष "कोई विकल्प नही" है। किन्तु यदि नियोक्ता अपने स्टाफ में पूर्णत अथवा अ शत. परिवर्तन करने, तथा विशेष मौसम मे अस्थायी श्रमिकों को काम पर लेने,

विशेष कार्यों के लिए श्रमिकों को रोजगार देने तथा काम पूरा होने पर उन्हें हटाने तथा दूसरे कार्य के लिए नवीन श्रमिकों की नियुक्ति करने का प्राय अभ्यस्त है, तो स्थिति भिन्न होगी। काम से हटाया गया श्रमिक यह अनुभव करेगा कि निकट भविष्य मे कम से कम अस्थायी रूप से उसके लिए पुन काम प्राप्त करने के अवसर हैं। उन लोगो का जो व्यवसाय से चिपके हुए हैं, कम से कम कुछ समय के लिये उस व्यवसाय मे रोजगार प्राप्त करने का कुछ अवसर अवश्य रहेगा। भले ही उन्हे उस व्यवसाय मे निरन्तर स्थायी रोजगार प्राप्त करने का अवसर कम मिले अथवा न भी मिले। रोजगार की 'अस्थाई अथवा आकस्मिक रीति" जैसाकि इसे सम्बोधित किया जाता है, की एक चरम स्थिति प्राय. ऐसे धन्धो मे पाई जाती थी, जैसे गोदी या बन्दरगाह पर माल उतारने का कार्य, जहा गोदी कर्मचारियो को स्थायी आधार पर न लिया जाकर किसी विशिष्ट माल को चढ़ाने अथवा उतारने के लिए काम पर लिया जाता है, और काम पूरा होने पर उन्हे हटा दिया जाता है।[1] इसने उद्योग पर आश्रित श्रमिको की एक विशाल भीड को जन्म दिया जिसमे श्रमिको की सख्या औसतन नियमित रूप से रोजगार प्राप्त कर सकने वाले श्रमिकों की सख्या से अधिक थी। फिर भी अनेक व्यक्ति गोदियों (docks) के बाहर काम प्राप्त करने की आशा में प्रतीक्षा करते रहते थे और उनमे से प्रत्येक को दूसरे के साथ काम प्राप्त करने का समान अवसर प्राप्त था और फलतः सबसे व्यस्त दिवस पर भी जितनी सख्या को काम प्रदान किया जा सकता था, उससे कही अधिक सख्या मे वहा जमघट लगा रहता था। ऐसे धन्धो मे रोजगार की अस्थिरता के कारण एक श्रमिक की औसत आय असाधारण रूप से कम तो होती ही है, किन्तु इसके साथ-साथ काम प्राप्त करने के लिये होने वाली कठिन प्रतियोगिता मजदूरी की दरो मे भी कमी कर सकती है। इतना ही नही, जब तक रोजगार की अस्थायी या आकस्मिक रीतिया बनी रहती हैं, इन दरो को बढाने के उद्देश्य से किये गये किसी प्रयास के द्वारा उद्योग के प्रति और अधिक बडी सख्या मे श्रमिक आकर्षित होगे और इस कारण औसत आय बढने की अपेक्षा और भी अधिक गिर जायगी।

5. शोषित श्रम सम्बन्धी व्यवसाय (The Sweated Trades) —शोषित श्रम वाले व्यवसायो की समस्या "अनुचित रूप से" न्यून मजदूरी की ही एक समस्या होती है। हाउस आफ लार्ड्स की एक प्रवर-समिति (Select Committee) ने शोषित श्रम वाले व्यवसाय की मूल व्याख्या करते समय इसे "अपर्याप्त मजदूरी, असामान्य रूप से कार्य के अधिक घण्टो तथा श्रम की अस्वच्छ

---

1. द्वितीय विश्व युद्ध के समय "स्थायीकरण" (Decasualization) के लिए उठाये गये उपायों के द्वारा रोजगार की इस पद्धति में महत्वपूर्ण परिवर्तन किये गये—ऐसे उपाय जिन्हें सन् 1946 के डाक वर्कर्स (रेग्यूलेशन आफ इम्प्लायमेंट) एक्ट के द्वारा स्थायी बना दिया गया।

दशाओं' का प्रतीक माना। अनेक दशाओं में तथाकथित 'शोषित श्रम वाले व्यवसायों" में घरों पर अथवा छोटे वर्कशॉप में किये जाने वाले हाथ के काम सम्मिलित होते थे जैसे कागज के डिब्बों का निर्माण, हाथ के बने फीते तथा कुछ जंजीरें बनाने एवं कपड़े धोने का काम, सस्ती सिलाई आदि जिनके सम्बन्ध में प्रथम विश्व युद्ध के पहले काफी चर्चा होती थी। प्राय सस्ते श्रम की पूर्ति उपलब्ध कर सकने की सम्भावना के कारण ही इन धन्धों का और उनके विद्यमान तरीकों का अस्तित्व बना रहता था अन्यथा ऐसा कार्य अधिक आधुनिक कारखानों में मशीनों के द्वारा किया जा सकता था। अन्य परिस्थितियों की भांति ये धन्धे ऐसे क्षेत्रों में अधिक थे जहां सस्ते श्रम की पूर्ति उपलब्ध थी। अधिकांश दशाओं में यह श्रम महिलाओं का श्रम होता था और ऐसी महिलायें कमाऊ पुरुष की मृत्यु या बीमारी अथवा बेरोजगारी के कारण पारिवारिक आय में कुछ वृद्धि करने के उद्देश्य से काम करने के लिए लाचार होती थीं। यदि ऐसा श्रम पर्याप्त सूचनाओं से अवगत होता, अथवा उसे तत्काल आय प्राप्त करने की व्यग्रता न होती तथा वैकल्पिक रोजगार की खोज में अन्यत्र जाने की उसमें क्षमता होती, तो वह इतनी असामान्य न्यून दरों को कभी स्वीकार नहीं करता। इसलिए यदि इन "शोषित श्रम वालों" द्वारों के भुगतान को रोकने के लिए प्रयास किया गया होता, तो अधिक सुसज्जित मशीनी उद्योग की प्रतियोगिता के समक्ष ये धन्धे शायद ही जीवित रह पाते। सस्ता श्रम उनकी अकुशलता की क्षतिपूर्ति के लिए अनुदान स्वरूप होता और इस दशा में सम्बद्ध श्रमिक बेरोजगारी में अपनी आय की सम्पूर्ण हानि के भागी होते। हल की पूर्णता की दृष्टि से इसका एक मात्र उपाय यह हो सकता है कि अतिरिक्त श्रम का अन्यत्र स्थानान्तरण किया जाय। समस्त समस्या पिछले अध्याय में विवेचित इस तथ्य का एक विशेष उदाहरण है कि दरिद्रता में और अधिक दरिद्रता उत्पन्न करने की प्रवृत्ति होती है। प्राय कमाऊ पुरुषों की निर्धनता परिवार की महिलाओं को बाहर जाकर रोजगार ढूंढने के लिए बाध्य करती है और इसके कारण उत्पन्न सस्ते श्रम की पूर्ति के सहारे "शोषित श्रम वाले धन्धों" को पनपने की क्षमता प्रदान करती है और एक बार यदि श्रम का मूल्य गिर जाता है, तो पूर्ति मूल्य के गिरने की सम्भावना बनी रहती है जिससे भविष्य में रोजगार की निकृष्टतम शर्तें सहर्ष स्वीकार करली जाती हैं।

6 पुरुषों तथा स्त्रियों की मजदूरी —"शोषित" श्रम का सम्बन्ध बहुत प्रश्नों में पुरुष एवं स्त्री-श्रम की और उनकी मजदूरी की सामान्य समस्या की एक चरम स्थिति मात्र है—यद्यपि वास्तव में शोषण पुरुष श्रम एवं स्त्री श्रम दोनों का ही हो सकता है। यदि समान कार्य के लिए पुरुष के स्थान पर स्त्री का और स्त्री के स्थान पर पुरुष का प्रतिस्थापन कभी सम्भव न होता, तो ऐसी दशा में पुरुष एवं स्त्री-श्रम परस्पर "अप्रतियोगी समूहों" का एक विशुद्ध उदाहरण, केयर्नीज के

अर्थ म इस रूप मे होगा कि एक समूह से दूसरे मे स्थानान्तरण सम्भव न था। यह हो सकता है कि वस्तुत कोई स्त्री पेरिस का खानसामा (Paris Chef) होने का दावा करे अथवा कोई पुरुष आया (nursemaid) अथवा अध्यापिका (governess) के छद्मवेश मे स्वय को प्रस्तुत करे किन्तु ऐसे तरीके सामान्यत काम मे नही लाए जाते। ऐसी दशा मे यदि एक समूह मे पूर्ति एव माग की दशायें, दूसरे समूह की पूर्ति एव माग की दशाओ से भिन्न है, तो इन दोनो समूहो मे श्रम के मूल्य मे अन्तर होना स्वाभाविक है।

माग की ओर से यह विचार हो सकता है कि ऐसे सवैतनिक कार्यो की बहुत कम सख्या हो सकती है जिनके लिये पुरुष एव स्त्रिया दोनो ही समान रूप से पूर्णत उपयुक्त हो। कुछ दशाओं मे स्त्रिया निश्चित रूप से अधिक उपयुक्त होगी जैसे कि सूत की कताई से सम्बन्धित कार्यो म, अथवा छोटे बच्चो के शिक्षण मे जबकि कोयला खोदने या लोहा ढालनेजैसे भारी शारीरिक कार्यों के लिए स्त्रिया निश्चय ही उपयुक्त नही होगी। कभी कभी यह कहा जाता है कि चू कि स्त्रियो के अस्वस्थ होने की अधिक आशका रहती है अथवा वे किसी रोजगार मे केवल अस्थायी रूप मे रहना चाहती है, तो केवल इस कारण से ही वे नियोक्ता के लिए कम उपयुक्त हो सकती है। इसके अतिरिक्त प्रथा के सम्भावित प्रभाव के कारण भी कुछ धन्धो मे स्त्रियो के लिए स्थान नही होता।

फिर भी अधिकाश देशो मे पुरुषो एव स्त्रियो की मजदूरी मे औसत अन्तर लगभग 50 प्रतिशत तक पाया जाता है—यह एक ऐसा अन्तर है जो केवल माग-सम्बन्धी कारको (factors) को देखते हुए बहुत अधिक प्रतीत होता है। निम्न तालिका[1] मे उस स्थिति को दिखलाया गया है जो दोनो विश्व युद्धो के बीच की अवधि मे विभिन्न देशो मे विद्यमान थी।

---

1. जे एल. रिचर्डसन, दी मीनीमम वेज, से उद्धृत पृष्ठ 136

युवतियां धन कमाने की अभ्यस्त नहीं होती एवं वे स्वतन्त्रता को महत्व देती है उनकी दृष्टि में अन्य व्यक्तियों की अपेक्षा कुछ शिलिंग प्राप्त करना अधिक मूल्यवान हो सकता है। किन्तु श्रम बाजार में स्त्रियों की पूर्ति पर उनकी उस संख्या का निश्चित प्रभाव पड़ता है जो न्यून आय बेरोजगारी, बीमारी अथवा कमाऊ पुरुष की मृत्यु के कारण पारिवारिक कठिन परिस्थितियों के द्वारा रोजगार खोजने के लिए विवश होती हैं। ये स्त्रियां चूंकि वे केवल निर्धनता से बाध्य होकर काम करने के लिए विवश होती है इसलिए जो कुछ भी उन्हें मिल जाय उसी पर काम करने के लिए वे तत्पर हो सकती हैं और उनकी दृष्टि में तत्काल कम आय भले ही वह अनियमित अथवा अस्थायी हो, का मूल्य अधिक उत्तम एवं सुनिश्चित भावी सम्भावनाओं से अधिक होगा और इसी कारण से इस प्रकार के स्त्री-श्रम की पूर्ति एवं पुरुष श्रमिकों की आय में विपरीत सम्बन्ध होता है, किसी भी ऐसी घटना का जो पुरुष-श्रमिकों की मजदूरी को कम करके स्त्री-श्रम की पूर्ति को सस्ता बनाती है, सचय प्रवृत्ति (cumulative tendency) होती है और इसलिए (जहां तक पुरुषों के स्थान पर स्त्रियों का प्रतिस्थापन सम्भव है) अपनी प्रतियोगिता के द्वारा पुरुष-श्रमिकों की मजदूरी में और अधिक कमी कर देती है।

किन्तु कुछ दशाओं में जहां तक पुरुष एवं स्त्री श्रमिकों का परस्पर प्रतिस्थापन सम्भव होता है, वे 'अप्रतियोगी समूहों' का विशुद्ध उदाहरण नहीं माने जा सकते—यद्यपि एक समूह में दूसरे में व्यक्तियों का स्थानान्तरण नहीं हो सकता और इसलिए दूसरे समूह से प्रतियोगिता का प्रश्न नहीं उठता, किन्तु फिर भी उनकी सेवाओं की मांग (अंशतः) स्थानान्तरित की जा सकती है। यहां तो तुरन्त यह प्रश्न उठता है कि यदि ऐसा प्रतिस्थापन सम्भव है तो यह उस समय तक निरन्तर कार्यशील क्यों नहीं रहता जब तक कि पुरुषों एवं स्त्रियों की मजदूरी-सीमा पर जहां प्रतिस्थापन किया जाता है, उनकी सापेक्ष कुशलता[1] के अनुपात के बराबर नहीं हो जाती? फिर भी ऐसे कारण हैं, जो यह सिद्ध करते है कि स्थिति ऐसी नहीं है। अतः यदि अपनी कुशलता की तुलना में स्त्री-श्रम सस्ता होता है, तो जब तक यह सापेक्ष सस्तापन समाप्त नहीं हो जाता तब तक पुरुष-श्रम के स्थान पर स्त्री श्रम को प्रतिस्थापित क्यों नहीं किया जाता? यह ध्यान देने योग्य है कि सापेक्ष कुशलता के अनुपात में मजदूरी की इस शर्त का, जिसके बारे में यह अपेक्षा की जा सकती है कि वह प्रतियोगिता के कारण उत्पन्न होती है, अर्थ आवश्यक रूप में श्रम के दोनों वर्गों के बीच असमानी-दरों (time rates) में

1. यह देखते हुए कि कुछ धन्धे ऐसे हैं कि जिनके लिए पुरुष निस्संदेह रूप से स्त्रियों की अपेक्षा अधिक उपयुक्त होते हैं और कुछ ऐसे हैं जिनके लिए पुरुषों की अपेक्षा स्त्रियां निश्चय ही अधिक उपयुक्त होती हैं, तो मजदूरी में औसतन समस्त व्यवसायों की कुशलता (यदि यह किसी अर्थ की बोधक है तो) की असमानता के अनुपात में होने की प्रवृत्ति नहीं पाई जायगी।

कार्यों को सम्पन्न करने में व्यस्त प्रायः घर पर रहने वाली स्त्रियों में से श्रम बाजार में स्त्री-श्रम की मात्रा में पर्याप्त वृद्धि करने के लिये विशेष परिस्थितियों की आवश्यकता होती है। इस तथ्य के साथ कि नियोक्ताओं में श्रम के लिये होने वाली प्रतियोगिता अपूर्ण होती है, एक बिन्दु से परे पूर्ति की इस बेलोच स्थिति का परिणाम काम पर लगे व्यक्तियों की मजदूरी में कमी के रूप में होगा और नियोक्ता इस भय से कि स्त्री-श्रम के लिये बढ़ी हुई इस माग के कारण इस श्रम के मूल्य में वृद्धि होकर उन्हें हानि होगी, और वे अधिक सख्या में स्त्रियों को कार्य प्रदान करने के इच्छुक नहीं होंगे। यदि ये दशायें रहती हैं, तो स्त्री-श्रम का असाधारण रूप से शोषण होगा और स्त्रियों की माग का विस्तार करके उनकी मजदूरी को बढ़ाने की दिशा में की गई प्रवृत्तिया कुठित हो जायेंगी। पुरुषों के स्थान पर स्त्रियों को पर्याप्त सख्या में प्रतिस्थापित करने के लिये उद्योग में दीर्घकालीन परिवर्तन धीमी व अनिश्चित गति से होंगे, और इस प्रकार से परिवर्तनों के लिये भी कोई बड़ा प्रमाण नहीं मिलता।

7. समान कार्य के लिये समान वेतन — 'प्राय यह तर्क दिया गया है कि स्त्री श्रमिकों के साथ न्याय करने तथा स्त्रियों की प्रतियोगिता द्वारा पुरुष-श्रमिकों की काट करने (undercut) और उन्हें उखाड़ने की आशका को समाप्त करने के लिये ऐसे समस्त व्यवसायों में जहा पुरुषों एव स्त्रियों में काम प्राप्त करने के लिये प्रतियोगिता हो," समान कार्य के लिये समान मजदूरी का सिद्धान्त-अर्थात् दूसरे शब्दों में, समान क्षमताओं वाले व्यक्तियों के लिए समान उजरत-दरों (piece rates) का सिद्धान्त अपनाया जाना चाहिये। ऐसी दशाओं में जहा नियोक्ताओं के लिये पुरुषों की तुलना में स्त्रिया कम उपयुक्त हैं, स्त्रियों के लिये उस व्यवसाय का द्वार वस्तुत. पूर्णरूपेण बन्द हो जायेगा, क्योंकि कोई भी नियोक्ता अधिक उपयुक्त पुरुष-श्रमिक की तुलना में उसी मूल्य पर स्त्री-श्रमिक को काम पर नहीं रखना चाहेगा, और जहा तक ऐसा होने का प्रश्न है, स्त्रियों की माग का केवल कुछ व्यवसायों तक सीमित करके स्त्री-श्रमिकों की मजदूरी के सामान्य स्तर को नीचा रखने की प्रवृति बनी रहेगी। किन्तु जहा, व्यवसाय के लिए स्त्री-पुरुषों की उपयुक्तता में विशेष असमानता नहीं होती है, इस सिद्धात को अपनाये जाने का विपरीत प्रभाव होगा। पुरुष-श्रम सघियों के इस भय को दूर करके ही वे स्त्री-श्रमिकों द्वारा प्रस्तुत अनुचित प्रतियोगिता के अधीन हैं, स्त्रियों के प्रवेश पर उनके द्वारा लगाये गये प्रतिबन्धों में से कुछ को ढीला करने, अथवा समाप्त करने के लिए उन्हें प्रेरित किया जा सकता है और इस प्रकार कुछ ऐसे व्यवसायों में स्त्रियों का प्रवेश हो सकता है जिनमें से वे पहले निष्कासित थीं। कुछ भी हो, यह स्पष्ट है कि स्त्रियों में श्रमिक सघ-सगठन का विस्तार करने की पर्याप्त सम्भावना है, जबकि अब तक या तो इसका अस्तित्व ही नहीं रहा, अथवा रहा भी है तो अत्यन्त शिथिल रहा है, और इसके

विस्तार का प्रभाव यह होगा कि केवल स्त्रियों के व्यवसायों में ही नहीं, बल्कि ऐसे व्यवसायों में भी जिनमें स्त्रियां पुरुषों से प्रतियोगिता करती हैं, सामूहिक सौदाकारी के द्वारा स्त्रियों की मजदूरी का स्तर बढ़ जायगा। पुरुष श्रमिक-संघों के दृष्टिकोण से श्रमिकों को एक निर्बल वर्ग का ऐसा संगठन, जहां तक कि इन दोनों के द्वारा रोजगार के लिए प्रतियोगिता का प्रश्न है लाभदायक हो सकता है। इससे, अथवा 'समान कार्य के लिए समान मजदूरी'' के सिद्धांत की स्थापना से कुल मिलाकर श्रमिक वर्ग की कुल आय में कहां तक वृद्धि हो सकती है, यह उन बातों पर निर्भर होगा जिनका विवेचन पांचवें अध्याय में किया जा चुका है। इन दोनों के द्वारा श्रमिकों के एक विशिष्ट वर्ग अर्थात् स्त्रियों के पूर्ति-वक्र में वृद्धि होगी। यदि स्त्रियों की ऊंची मजदूरी का प्रभाव कार्यकुशलता में पर्याप्त वृद्धि के रूप में होता है, तो इससे कुल मिलाकर आय में निश्चय ही वृद्धि होगी। किन्तु यदि इससे ऐसा नहीं भी होता है तो भी, जहां तक यह श्रमिक वर्ग को इसके द्वारा व्यय की गयी श्रम शक्ति के अनुपात में कुल मिलाकर अधिक आय प्राप्त करने की क्षमता प्रदान करता है, इससे श्रमिक-वर्ग की स्थिति में सुधार ही होगा।

8 अन्तर्राष्ट्रीय मजदूरी के अन्तर या असमानताएं—विभिन्न देशों में मजदूरी की व्यापक असमानताओं (जिनका द्वितीय अध्याय में विस्तार से वर्णन किया जा चुका है) के कारणों के विषय में छानबीन करने पर हमें ज्ञात होगा कि इनमें भी वे ही बातें लागू होती हैं जो एक देश के विभिन्न जिलों में मजदूरी की असमानताओं के विषय में लागू होती हैं। सर्वप्रथम, यह ध्यान में रखना महत्वपूर्ण होगा कि वास्तविक मजदूरी समान रहते हुए भी नकद मजदूरी में पर्याप्त असमानता हो सकती है। छोटे देहाती कस्बों की अपेक्षा विशाल शहरी क्षेत्रों में नकद मजदूरी प्रायः अधिक ऊंची होती है, जैसे कि मुद्रणालयों में ग्रामीण एवं शहरी क्षेत्रों में निर्वाह-व्यय की असमानता के कारण इस असमानता का बहुत बड़ा भाग सन्तुलित हो जाता है। विभिन्न देशों में वास्तविक मजदूरी की तुलना करने की कठिनाई और उनके प्रचलित अनुमानों में त्रुटियों की सम्भावना पर द्वितीय अध्याय में पहले ही विचार किया जा चुका है, फिर भी अधिकांश प्रयोजनों के लिए विभिन्न देशों में प्रचलित वास्तविक मजदूरी के स्तर का महत्व बहुत अधिक होता है और इसी पर हमें ध्यान केन्द्रित करने की आवश्यकता है।[1] द्वितीय, दो जिलों या दो देशों में

---

1 कुछ प्रयोजनों के लिए वस्तुतः दो देशों के मध्य नकद मजदूरी के अन्तरों पर विशेष ध्यान देना आवश्यक हो सकता है। उदाहरण के लिए, यदि यह मान लिया जाय कि दो देशों के बीच वास्तविक मजदूरी का स्तर समान है किन्तु किसी कारण से उन देशों में प्रचलित नकद मजदूरी के अन्तर के मध्य इसका सह-प्रतिबन्ध है, (अर्थात् प्रचलित विनिमय दर पर स्वर्ण के रूप में), तो ऐसी दशा में न्यून नकद मजदूरी वाले देश में निर्यातों की सापेक्ष स्थिति

वास्तविक मजदूरी एव श्रम की सापेक्ष कुशलता एव दक्षता दोनो की तुलना करना आवश्यक है। हो सकता है कि किसी शहर या गाव मे, अथवा दो विभिन्न जिलो मे मजदूरी की असमानतायें (जैसे कि उत्तरी इगलैंड और दक्षिणी इगलैंड) सापेक्ष अर्थ मे "अनुचित" न हो क्योंकि सम्भवत वे कुशलता एव दक्षता मे समान असमानताओ के अनुरूप हो। इसी प्रकार, बम्बई अथवा शंघाई का सूती-वस्त्र श्रमिक बोल्टन अथवा ओल्डहम के सूती वस्त्र श्रमिक की तुलना मे कम कुशलता एव तीव्रता से कार्य करता है और नियोक्ता के लिए श्रम की लागत मे असमानता उससे कही कम है जो कि केवल *वास्तविक मजदूरी की तुलना करने पर प्रतीत होगी। साथ ही,* यह भी सही हो सकता है कि मजदूरी पाने वाले श्रमिक मे कुशलता की न्यूनता निम्न जीवन स्तर का प्रभाव एव कारण दोनो हो सकती हैं—बम्बई का एक श्रमिक अपने आहार एव निवास की दशाओ तथा प्रथा एव लालन-पालन दोनो के कारण कारखाने मे अति तीव्रता से काम करने के लिए कम उपयुक्त होता है। यहा जो बात सबसे सारपूर्ण है वह यह है कि एक प्रतिस्पर्धात्मक प्रणाली इस स्थिति मे वास्तविक मजदूरी को बराबर करने की कोई प्रवृत्ति स्थापित नही करती और *यदि ऐसा नही होता तो इसमे आश्चर्य करने का कोई कारण नही होना चाहिए।*

कार्य कुशलता एव दक्षता की असमानताओ की अपेक्षा वास्तविक मजदूरी की अन्तर्राष्ट्रीय असमानतायें बहुत अधिक होती है और विभिन्न देशो के मध्य इस प्रकार की *असमानताए जैसाकि एक देश के अन्दर होता है, इस तथ्य पर निर्भर हो सकती है कि* श्रम की गतिशीलता और उसकी माग, दूसरे शब्दो मे पूंजी की माग किस सीमा तक अवरुद्ध होती है। विभिन्न देशो की आर्थिक प्रणालिया "अप्रतियोगी समूहो" का निर्माण करती हैं। इस विषय मे पूजी की अपेक्षा श्रम सम्भवत कम गतिशील होता है। उच्च मजदूरी वाले देशो मे कुछ सीमा तक श्रम का आप्रवास (immigration) होता ही है और यदि मजदूरी के स्तर मे असमानता पर्याप्त रूप से अधिक होती है तो यह प्रवाह काफी बढ सकता है। पिछले सौ वर्षो मे यूरोप से सयुक्त राज्य *अमेरीका मे प्रवासियो का निरन्तर प्रवाह हुआ है।* फिर भी श्रम की *गतिशीलता* को विभिन्न कारको ने प्रतिबन्धित एव सीमित किया है—जैसे स्वय श्रमिको की निर्धनता, भाषा, नागरिकता एव प्रथा की कठिनाइया और वह स्वाभाविक निश्चेष्टता या जडता जो किसी औसत व्यक्ति को अज्ञात एव काल्पनिक की अपेक्षा अभ्यस्त एव सामान्य को अधिक वरीहता देने के लिए बाध्य करती है। बहुत से फ्रांसीसी व जर्मन श्रमिक लकाशायर मे काम करने के लिए केवल इसलिए

कुछ लाभदायक एव उच्च नकद मजदूरी वाले देश में (उत्पादन निर्यात के लिए होने पर) नियोक्ता की सापेक्ष स्थिति कुछ हानिपूर्ण रहेगी। इसे एक ऐसा महत्वपूर्ण कारण माना *गया है जिसने एक शताब्दी से पहले सूती वस्त्र उत्पादकों को, खाद्यान्नों पर आयात कर* समाप्त करने का समर्थन करने के लिए प्रभावित किया।

नही आते कि वहा रोजगार के अवसर उत्तम होते हैं, भारतीय व चीनी तो और भी कम आते हैं ब्रिटिश जहाजो मे नाविक जैसे विशिष्ट मामलो को भले ही अपवाद माना जाय। यदि इस आप्रवास के आकार मे इतनी अधिक वृद्धि हो जाती है कि जिससे उच्च वेतन वाले राष्ट्र के वेतन स्तर मे गिरावट आ जाती है तो बाहर से आने वाले व्यक्तियो के आप्रवास पर प्रतिबन्ध लगाये जा सकते हैं, जैसे सयुक्त राज्य अमरीका, आस्ट्रेलिया एव ब्रिटेन मे किया गया है।

अत जिस प्रकार एक देश के अन्दर श्रम के किसी विशेष वर्ग की स्थिति विशेषाधिकार की हो सकती है और उसे "श्रम की कुलीनता की सज्ञा दी जा सकती है, ठीक उसी प्रकार किसी ऐसे देश के श्रमिको की स्थिति जो प्राकृतिक साधनो अथवा प्राप्त या अर्जित किये गये लाभो मे विशेष रूप से सम्पन्न है, अथवा औद्योगिक दृष्टि से अपने पडौसियो की अपेक्षा अधिक विकसित है, अपने स्वामियो की विभेदात्मक सम्पन्नता मे हिस्सा बटा सकते है, तथा विश्व के अन्य भागो की तुलना मे एक प्रकार से "श्रम की कुलीनता" के प्रतीक बन सकते हैं। इसमे प्रथा एव परम्परा दोनो महत्वपूर्ण भाग अदा करती हैं। जिन देशो मे जहा कम मजदूरी पाई गई है, वहा प्रथा की वजह से श्रम का पूर्ति मूल्य नीचा ही रहेगा और इसलिए सापेक्ष मजदूरी एव वास्तविक मजदूरी के स्तर को असामान्य रूप से नीचा स्थिर कर दिया है, किन्तु ऐसे देशों मे जहा किसी न-किसी समय श्रम, सापेक्ष अथवा निरपेक्ष रूप मे, उत्पादन मे अधिक भाग प्राप्त करने मे सफल हुआ है, तो यह तथ्य श्रम के पूर्ति-मूल्य एव नियोक्ता अथवा विनियोजक-वर्ग के स्वभाव एव मूल्याकनो दोनों को प्रभावित करके, मजदूरी के स्तर के निरन्तर ऊचे रहने का प्रमुख कारण हो सकता है।

किन्तु आधुनिक समय मे राष्ट्रीय सीमाओ को पार करने की दिशा मे पू जी ने बढती हुई प्रवृत्ति प्रदर्शित की है क्योकि आधुनिक साम्राज्यवाद ने विश्व के कम विकसित देशो पर उन्नत पू जीवादी देशो के राजनीतिक आधिपत्य का विस्तार कर दिया है। कुछ दशाओ मे राजनीतिक नीति द्वारा पू जी की इस गतिशीलता को निश्चय ही प्रोत्साहन मिला है जैसाकि ब्रिटिश ट्रस्टी अधिनियमो के अन्तर्गत कुछ औपनिवेशिक प्रतिभूतियो को सूचीबद्ध करने की दशा मे हुआ है। जिस प्रकार दक्ष एव अदक्ष श्रमिको की मजदूरी की असमानता उस सीमा तक कम हो जाती है उस सीमा तक अदक्ष श्रमिको को दक्ष श्रमिको के स्थान पर समान कार्य के लिए लगाया जा सकता है, उसी प्रकार उच्च मजदूरी वाले देश से निम्न मजदूरी वाले देश मे श्रम की यह हस्तान्तरित माग अधिक विकसित देशो मे "श्रम की कुलीनता" की विशेष स्थिति को दबा देती है। यदि पू जी की यह गतिशीलता निर्बाध रूप से चलती रहे, तो इससे समस्त विश्व मे समान कुशलता एव दक्षता वाले श्रम की मजदूरी में समानता स्थापित होगी और जहा तक कार्यकुशलता पर

जीवन-स्तर द्वारा डाले जाने वाले प्रभाव का प्रश्न है, पूजी की गतिशीलता कुशलता की अनेक असमानताओ मे भी समानता उत्पन्न कर सकती है। वस्तुत पूजी की असीमित गतिशीलता कही भी नही पाई जाती है। किन्तु पिछले वर्षों मे पूजी का पर्याप्त स्थानान्तरण हुआ है जिसने इगलैड एव सयुक्त राज्य अमरीका के श्रमिको को अधिक विशेष लाभ की स्थिति वाले वर्गों की ऊची मजदूरी के स्तरो को गम्भीर रूप मे प्रभावित किया है। सयुक्त राज्य अमरीका मे ऐसे दक्षिणी राज्यो की ओर उद्योगो के स्थानान्तरण की बहुत अधिक चर्चा रही है जहा श्रम सस्ता है और इसकी तुलना उस प्रवृत्ति से की जा सकती है जिसके आधार पर भारत, चीन, जापान, दक्षिणी अमरीका और आस्ट्रेलिया म औद्योगिक विकास के लिए यूरोपीय पूजी का प्रवाह होता है, जो पहले से स्थापित यूरोपीय उद्योगो से प्रतियोगिता करता है। जबकि यह सही है कि भूतकाल में ऊची मजदूरी वाले देशों में "श्रम की कुलीनता" को सस्ते खाद्य एव कच्चे माल के रूप में क्षतिपूरक लाभ प्राप्त हुआ है, और यह विदेशी पूजी के द्वारा नवीन राष्ट्रो के खुल जाने से सम्भव हो सका है, फिर भी नीची मजदूरी वाले क्षेत्रो के प्रतिस्पर्धी आकर्षणो से उनके प्रतिमानो को जो आघात पहुचा है वह कुछ कम महत्व का नही है और यहा, जैसाकि श्रम के सस्ते वर्ग की प्रतियोगिता की दशा में कही भी हो सकता है यूरोप और सयुक्त राज्य अमरीका के श्रमिक सगठन के विस्तार अथवा उनके एशियायी भाइयो के पूर्ति-मूल्य मे वृद्धि करने वाले किसी भी परिवर्तन से लाभान्वित होंगे।

श्रमिक संघवाद एवं मज़दूरी | 7

1 श्रमिक संघों की प्रकृति —श्रमिक संघ मूल रूप में पूंजीवादी मजदूरी-प्रणाली की उपज हैं क्योंकि वे उस आर्थिक निर्बलता के विरुद्ध एक स्पष्ट सुरक्षात्मक रेखा का प्रतिनिधित्व करते हैं जिसमें सम्पत्तिविहीन श्रमिक असंगठित व्यक्तियों की भांति कार्य करते हुये अपना जीवन व्यतीत करते हैं। एक पृथक व्यक्तिगत मोद के स्थान पर सामूहिक मोद की प्रतिस्थापना करना उनका मौलिक कार्य है जिससे कि वे उस पूर्ति-मूल्य में वृद्धि कर सकें जिस पर श्रम का विक्रय होता है, और साथ ही समस्त व्यवसायों में मजदूरी की एक समान दर स्थापित कर सकें। कुछ व्यक्तियों ने श्रमिक संघों का मध्ययुगीय शिल्प संघों के समानान्तर मानने का प्रयत्न किया है, यद्यपि वे इन दोनों में कोई ऐतिहासिक सम्बन्ध स्थापित करने में सफल नहीं हुये हैं। किन्तु इसकी पुष्टि के लिये इस विचार में कोई औचित्य नहीं है। अब सामान्यत यह स्वीकार किया जाता है कि श्रमिक संघों का कोई मान्य वंशानुक्रम यदि कोई हो सकता है तो इसका मूल स्थान इन शिल्प अथवा वाणिज्य-संघों की अपेक्षा कारीगरों या दैनिक मजदूरी पर काम करने वाले श्रमिकों के संघों में मिलेगा जो पन्द्रहवीं एवं सोलहवीं शताब्दी में यदा-कदा उस समय दिखाई देते थे जब कभी पूर्ण रूप से विशिष्ट श्रमिक-वर्ग के चिन्ह पाये जाते थे। शिल्प संघ मौलिक रूप में ऐसे प्रमुख शिल्पियों के संघ थे जो माल का उत्पादन एवं विक्रय दोनों करते थे तथा जो कारीगरों के साथ-साथ नौसिखुओं (Apprentices) को भी अपनी सेवा में नियुक्त करते थे। बाद में चलकर उनमें से अधिकांश संघ पूर्ण-रूप से व्यापारियों के संघ बन गये जिनकी तुलना अनेक प्रकार से आधुनिक

विक्रय सघो से की जा सकती है। इसके विपरीत एक श्रमिक-सघ, विशिष्ट सामाजिक एव आर्थिक स्थिति वाले श्रमिक-वर्ग का ऐसा सघ है जिसका सम्बन्ध श्रम के विक्रय एव रोजगार की दशाओ के लिये सौदाकारी करने से होता है, और चू कि एक वस्तु के रूप मे श्रम शक्ति की कुछ अलग विशेषतायें हैं जिनका विवेचन पिछले अध्याय मे किया जा चुका है, श्रमिक-सघ को साधारण विक्रय-सघ के समान समझने का सम्भावित परिणाम स्पष्टता के बजाय भ्रम के रूप मे होगा।

2. श्रमिक सघवाद का आरम्भ—यद्यपि इस बात के प्रमाण है कि शिल्पकारो के ऐसे सघ जिनके उद्देश्य श्रमिक सघो के उद्देश्यो के समान ही थे, अठारहवी शताब्दी मे दिखलाई दिये (जैसे कि लन्दन के दर्जियो मे सन् 1720 मे तथा बाद मे चर्मकारो एव अश्वचिकित्सको (Curriers and farriers) कोच निर्माताओ तथा रेशमी वस्त्रो के बुनकरो मे) फिर भी यह कहा जा सकता है कि श्रमिक सघवाद का आरम्भ उन्नीसवी शताब्दी के आरम्भ मे कारखाना-उद्योग के शीघ्र प्रसार के साथ हुआ। प्रारम्भिक सघो की प्रकृति छुट-पुट थी और इनका चलन उन शिल्पियो मे अधिक था जो पहले से अर्धपरतन्त्र (Semi-dependent) एव अर्ध सर्वहारा (*Semi-proletarian*) स्थिति मे थे और कारखानो मे काम करने वाले महत्वपूर्ण श्रमिक वर्ग के उदय के बाद ही ऐसा वातावरण उत्पन्न हुआ जिसमे एक स्थाई सस्था के रूप मे श्रमिक सघवाद अपनी जडें जमा सका। ये प्रारम्भिक श्रमिक सघ प्राय स्थानीय व्यापार क्लबो एव समितियो के रूप मे थे जिनकी सख्या प्रायः बहुत कम थी और जिनका गठन ऐसे दक्ष शिल्पकारा के चुने हुये समूहो द्वारा होता था जिन्हे श्रमिक वर्ग के अन्तर्गत विशेषाधिकार प्राप्त "कुलीनतन्त्र" होने का गर्व था। उनमे से अनेक प्राचीन गुप्त समितियो की प्रथाओ एव अनुष्ठानो का प्रयोग करते थे और उनमे प्राय विस्तृत दीक्षा समारोहो (Initiation ceremonies) का सम्पन्न करना एक सामान्य बात थी। लन्दन के चित्रकारों की फॉनिक्स समिति (Phoenix Society of Painters) की तरह की अनेक ऐसी सस्थायें थी जो सदस्यो से यह अपेक्षा करती थी कि वे फ्राक-कोट एव ऊचे टोप (Top-hats) पहन कर सभाओ मे उपस्थित हो। मैन्चेस्टर के ईट निर्माताओं (Bricklayers) मे झगडालू सदस्यो के निष्कासन की व्यवस्था थी, तथा कुश्ती, उछलना दौड, फुटबाल, वीरतापूर्ण कार्यो, मदिरापान अथवा अनैतिक आचरण के विरुद्ध नियम बने हुए थे, जबकि एक अन्य समिति मे "शराबी", गाली देने वाला अथवा धार्मिक नियमो का उल्लघन करने वाले (Sabbath-breaker) को पृथक करने की व्यवस्था थी।[1] साथ ही विराट सघवाद का भी उदय हुआ, जैसे कि टामस हेपबर्न के अन्तर्गत उन्नीसवी शताब्दी

1. आर. डब्ल्यू. पोस्टगेट, "दी बिल्डर्स हिस्ट्री" पृष्ठ 18 और 32

के दूसरे व तीसरे दशकों में टाइन पर खान खोदने वालों में हुआ, और तीसरे दशक में कृषि श्रमिकों एवं लंकाशायर के कातने वालों में हुआ। सन् 1824 तक जबकि संगठन अधिनियमों (Combination Acts) का समाप्त किया गया, अवैधानिक षडयन्त्रों के रूप में निषिद्ध एवं इन अधिनियमों की समाप्ति के बाद भी सामान्य कानून के अन्तर्गत अनेक तरह से उत्पीड़ित और मान्यता के लिए मालिकों द्वारा अस्वीकृत संघों का पारस्परिक बातचीत के बजाय सीधी कार्यवाही में अधिक विश्वास था, तथा जबकि एक ओर मालिक पुलिस एवं सेना को बुला लेते थे और (सम्भव होने पर) हड़तालियों को उनके घरों से निकाल देते थे, तो दूसरी ओर श्रमिक प्रायः तोड़फोड़ एवं हिंसा का आश्रय लेते थे। सन् 1830 से प्रारम्भ होने वाले दशक में इन स्थानीय श्रमिक संस्थाओं को बड़े राष्ट्रीय संगठनों में संघीकृत करने के महत्वाकांक्षी प्रयास किये गये जिनमें प्रमुख सूत कातने वालों का संघ एवं भवन निर्माता संघ थे, और ग्रान्ड नेशनल कन्सोलीडेटेड ट्रेड्स यूनियन के रूप में रोबर्ट ओवेन की विराट योजना उल्लेखनीय थी। किन्तु जब तक संगठन का आधार स्थानीय एवं वर्गीय रहा, और प्रत्येक स्थानीय संघ के कर्मचारी का मानसिक क्षितिज अपने कस्बे से आगे का नहीं था एवं वह प्रमुखतया विशिष्ट समूह स्वार्थ से प्रभावित था, तब तक विस्तृत या विशाल संघों में सम्बद्धता का अभाव रहना स्वाभाविक था। कुछ दूरदर्शी श्रमिक नेताओं द्वारा सन् 1850 एवं 1860 के दशकों में कुछ वेमेल संघ स्थानीय व्यवसाय क्लबों को मिलाकर केन्द्रीकृत वित्त व्यवस्था के जरिए सुदृढ़ राष्ट्रीय संघों के निर्माण में सफलता प्राप्त हो जाने के बाद ही आधुनिक श्रमिक संघ संगठन की प्रमुख आधार शिलाएं स्थापित की गयीं। उस समय इन नवीन संघों को 'दी न्यू मॉडल" के नाम से सम्बोधित किया गया। किन्तु शताब्दी के अन्त में इन्हें "पुरातन संघवाद" (The Old Unionism) के नाम से सम्बोधित किया जाने लगा।

3. "पुरातन संघवाद":—ये नवीन राष्ट्रीय "संयुक्त" संघ जिनमें सन् 1850 में संगठित इन्जीनियर्स की संयुक्त समिति प्रमुख थी, यद्यपि उद्देश्यों को देखते हुये इनका स्वरूप राष्ट्रीय था, फिर भी ये प्रमुखतः उच्चतर दक्ष शिल्पकारों द्वारा संगठित ऐसे पुराने व्यापारिक वर्गों की भांति ही थे जिनमें निम्नतर अदक्ष श्रेणियों का प्रवेश नहीं था और जो इनकी आवश्यकताओं की पूर्ति नहीं करते थे। विचारों में सतर्क एवं अप्रगतिशील और सामान्यतः नियोक्ताओं के साथ संयुक्त समझौता मण्डलों की स्थापना और समझौता (Conciliation) तथा विवाचन या पंच-निर्णय (Arbitration) के पक्ष में हड़ताल को तिलांजली देने वाले ऐसे संघों का उद्देश्य अपने श्रम को दुर्लभ बना कर श्रम-बाजार में अपने लिए विशेषाधिकार की स्थिति प्राप्त करना था। इनके तरीके भी वास्तव में पुराने संघों के एकाधिकारी उपायों की भांति होते थे जिनका ध्येय अपने धन्धे को एक 'अप्रतियोगी समूह"

के रूप मे सुरक्षित करना था जिससे कि उनकी सवाओं का उच्चतर मूल्य पर बेचा जा सके। उनकी नीति का यह आधारभूत सिद्धान्त सन् 1857 मे फ्लिन्ट ग्लास-निर्माताओं के एक सघ द्वारा कार्यकारिणी सभा के समक्ष एक भाषण मे इस प्रकार व्यक्त किया गया, सरल रूप मे यह पूर्ति एव माग की ही समस्या है और हम सब जानते हैं कि यदि किसी वस्तु की पूर्ति उसकी वास्तविक माग से अधिक होती है तो इसका स्वाभाविक परिणाम यह होगा कि वह वस्तु चाहे श्रम हो या अन्य कोई वस्तु, सस्ती हो जायगी।" सन् 1854 मे एक अवकाश प्राप्त करने वाले सचिव ने कहा बाजार से अतिरिक्त श्रम को हटाने के सरल कार्य के द्वारा तुम अपनी मजदूरी की स्थिति को उत्तम बनाये रख सकते हो।"[1] पुराने व्यापारिक क्लबों मे से अधिकाश ने इसी प्रकार के तरीकों का प्रयोग किया था, और नवीन सयुक्त सघों ने भी बाद मे चल कर उन्ही तरीकों का प्रयोग राष्ट्रीय स्तर पर किया। डबलिन के डिब्बे कुप्पियाँ या बनाने वालों तथा कोर्क के राजगीरों (Stonemasons) मे कुछ समय पहले तक यह प्रथा थी कि वे अन्य नगरों से रोजगार की खोज मे आने वाले 'बाहरी व्यक्तियों" से एक शिलिंग प्रति सप्ताह की दर से कर लेते थे। इसका आधा भाग एक विशेष कोष म जमा होता था जिसका उद्देश्य बाहरी व्यक्तियों को नगर से बाहर भेजने और उन्हे वापसी का किराया देने मे उस समय किया जाता था जबकि व्यवसाय मे शिथिलता उत्पन्न हो जाती थी और बेरोजगारी का खतरा दिखाई देने लगता था। राष्ट्रीय शिल्प सघ मुख्यत शिशिक्षुता या शिक्षणावस्था Apprenticeship) सम्बन्धी सतर्क नियमों के द्वारा इसी प्रकार के ऐसे वर्गीय उद्देश्यों का अनुगमन करते थे जिसका परिणाम व्यवसाय म प्रवेश पर रोक लगाना होता था और नियोक्ताओं के साथ ऐसे समझौते करके जिनमे विभिन्न शिल्पों के बीच ही नही (जैसे कि नलसाजों और मिस्त्रियों अथवा जुडाई करने वालों और नमूनाकारों के व्यवसायों के बीच) बल्कि शिल्पियों एव कम दक्ष व्यक्तियों के बीच भी कार्य के ध्यान पूर्वक सीमा विभाजन की व्यवस्था होती थी और इस प्रकार किसी विशिष्ट सघ के सदस्यों की माग के पृथक "निर्धारण" पर तथा उनकी सेवाओं की माग के अन्य श्रमिकों को किये जाने वाले हस्तान्तरण पर प्रतिबन्ध हो जाता था। प्रारम्भ मे शिशिक्षुओं या नवसिखुओं के पुराने कानून (Old Statute of Apprentices) के अन्तर्गत कानून के द्वारा शिशिक्षुओं के परिसीमन की स्वीकृति दी गयी थी। किन्तु सन् 1814 मे यह स्थिति समाप्त कर दी गयी और प्रारम्भिक शिल्प सघ केवल उस प्रथा को जारी रखते हुये जिसे पहले कभी कानून के द्वारा लागू किया गया था। राजगीरों द्वारा प्रत्येक पाच या छह कार्यशील श्रमिकों पर शिशिक्षुओं की सख्या एक तक सीमित कर दी गयी थी, और उनकी दशा मे अब भी यही सीमा है, तथा शिशिक्षुता की अवधि

1. टेविड वेब, हिस्ट्री ऑव ट्रेड यूनियनिज्म, 1920 सस्करण, पृष्ठ 201

पाच मे लगाकर सात वर्ष तक निर्धारित की गयी । फ्लिट ग्लास–निर्माताओ द्वारा यह सख्या प्रत्येक छह श्रमिको पर एक तथा लिथोग्राफिक प्रिन्टर्स द्वारा प्रत्येक पाच श्रमिको पर एक, और किसी एक फर्म मे अधिक से अधिक छह, जबकि शेफील्ड के कुछ कटलरी व्यवसायो मे शिशिक्षुता केवल विद्यमान शिल्पकारो के पुत्रो तक ही सीमित थी । कम्पोजीटरो के लिये विभिन्न नगरो मे अलग–अलग नियम हैं, किन्तु सामान्यत सभी स्थानो पर किसी एक फर्म के द्वारा लिये जाने वाले शिशिक्षुओ की उच्चतम सख्या दृढतापूर्वक निर्धारित होती है । इसके अतिरिक्त शिल्पसघो द्वारा प्राय समयोपरि कार्य को रोकने के प्रयास किये गये, उनके द्वारा बीमारी, दुर्घटना, बेरोजगारी अथवा *वृद्धावस्था की स्थिति मे प्रयोग किये जाने के लिये मैत्रिक लाभ* कोष (Friendly Benefit Furds), के रूप मे विशाल कोषो का निर्माण अपने सदस्यो की आर्थिक दशा को सुधारने के उद्देश्य से किया गया, जबकि अनेक दशाओ मे उनके द्वारा एक प्रवास–कोष (emigration fund) भी स्थापित किया गया जैसाकि फ्लिन्ट ग्लास निर्माताओ, कम्पाजीटरो, जिल्दसाजो, लोहे की ढलाई करने वाला तथा इन्जीनियरो के द्वारा व्यवसाय के फालतू सदस्यो को विदेशो मे भेजने के उद्देश्य से किया गया ।

श्रमिक सघो के इन तरीको की प्रकृति प्राचीन सघो अथवा अर्वाचीन *विक्रय-सघो या कार्टेल से बहुत अधिक मिलती-जुलती है ।* किन्तु कारखानो मे मशीनी तरीको के बढते हुए प्रभाव के साथ, जिसके कारण पुराने शिल्पियों के प्रभाव में कमी हुई है, शिल्प सघा द्वारा अपनी विशेषाधिकार की स्थिति को बनाये रखने की शक्ति क्षीण हो गयी । विशेष दक्षता की माग सकुचित हो गयी, क्योंकि एक सकुचित क्षेत्र मे ही इस दक्षता की आवश्यकता शेष रह गई । जटिलतम मशीन की देख-रेख के लिए आवश्यक प्रशिक्षण की मात्रा, पहले मिलराइट या लिथोग्राफिक प्रिन्टर के प्रशिक्षण की तुलना मे बहुत कम रह गयी, और आज माल को अपने हाथो से सवारने वाले शिल्पकार की बजाय एक श्रमिक सामान्यत जटिल मशीनी प्रक्रिया का एक उत्तरदायी परिचालक मात्र रह गया है । इसके फलस्वरूप *शिशिक्षुता के पुराने कठोर नियमो मे ढिलाई की गई अथवा उनका परित्याग* किया गया, अथवा वे स्वत ही व्यवसाय की "आन्तरिक प्रगति (अथवा पदवृद्धि)" के द्वारा समाप्त हो गये । शहरो के मुद्रणालयो मे जहा शिशिक्षुता के विषय मे कठोर प्रतिबन्ध होते हैं, अपने रिक्त स्थानो की पूर्ति, उन ग्रामीण फर्मों मे कम्पोजीटरो का आकर्षित करके की जाती है जहा शिशिक्षुता के नियम या तो लागू नहीं होते हैं अथवा यदि लागू भी होते हैं, तो उन पर विशेष बल नहीं दिया जाता, जबकि एक आधुनिक इजीनियरिंग वर्कशॉप मे न्यूनतम अनुभव प्राप्त अर्धदक्ष श्रमिक द्वारा परिचालित साधारण मशीन से लगाकर दक्षता एव अनुभव की अपेक्षा करने वाले अधिक जटिल परिचालनो की विभिन्न मशीनो का क्रम विद्यमान होता है । यह

भेद करने के लिए कि दक्ष कार्य कहा आरम्भ होना है और अर्धदक्ष कार्य कहाँ समाप्त होता है, इस प्रक्रियाओ के मध्य विभाजन रेखा खीचना अत्यन्त कठिन है, तथा व्यवहार मे अदक्ष श्रमिक एक प्रक्रिया ने दूसरी पर गुजरते हुए क्रमश बिना किसी औपचारिक शिशिक्षुता के उच्च प्रक्रियाओ के लिए आवश्यक दक्षता प्राप्त कर सकते हैं, और इस प्रकार वस्तुत बहुत बडी सख्या मे पदवृद्धिया की जाती है। फलस्वरूप अब पुरातन सघवाद का सघवादी किस्म का व्यवहार बहुत कुछ समाप्त हो चुका है। अब यह केवल कुछ व्यवसायो मे ही सीमित है, जैसे कि बोयलर-निर्माता, शेफील्ड के चाकू छूरी व्यवसाय और भवन-निर्माण व्यवसायो के कुछ वर्ग इसके उदाहरणस्वरूप माने जा सकते है। किन्तु इजीनियरिग एव प्रिंटिंग व्यवसायो मे घटना चक्र इसके महत्व को दिन-प्रति दिन कम कर रहा है, जबकि वस्त्रोद्योग खनन एव परिवहन व्यवसायो मे इनका अस्तित्व नही है।

4 "नवीन सघवाद"—उन्नीसवी शताब्दी के अन्तिम बीस वर्षों में "नवीन सघवाद" के नाम से श्रमिक सघ सगठन की एक नवीन लहर प्रगट हुई है। बीस साल पहले श्रमिको के अन्तर्राष्ट्रीय सम्मेलन मे बोलते हुए एक वक्ता ने सुझाव दिया कि शिल्पसघो की वृद्धि के द्वारा एक "पचमावस्था" (Fifth Estate) उत्पन्न हो सकती है—जो निष्कासित अदक्ष श्रमिको से सम्बन्धित होगी और जो सगठित एव दक्ष शिल्पियो की चतुर्थावस्था (Fourth Estate) के नीचे होगी। वस्तुत कुछ सीमा तक स्थिति ऐसी ही थी और यदि दक्ष शिल्पकारो की विशेषाधिकार की स्थिति को मशीनो की प्रगति ने कम न कर दिया होता, तो यह स्थिति और अधिक व्यापक रूप ले सकती थी। कुछ भी हो नवीन सघवाद ने इस तथाकथित "पचमावस्था" की अभ्यर्थना की—बढी हुई दाढियो एव फटी हुई जाकटो वाले असख्य ऐसे श्रमिको की जो पुरातन सघवाद के द्वार मे प्रवेश पाने से वचित रह गये थे, तथा इस काल मे अनेक नवीन सामान्य श्रमिक सघो—जैसे गोदी-कर्मचारियो का सघ (Dockers' Union), दी वर्कर्स यूनियन, दी गैस वर्कर्स, दी सीमेन्स यूनियन और दी नेशनल यूनियन आव जनरल एन्ड म्युनिसिपल वर्कर्स—की प्रगति अदक्ष श्रमिको द्वारा अपने को सगठित करने की दिशा म प्रथम व्यापक प्रयास का प्रतीक थी। स्थिति की प्रकृति को देखते हुए ये नवीन सघ दक्ष एव अनुभवी श्रमिको के विशेष तरीको को नही अपना सकते थे—शिशिक्षुता एव शिल्पो के सही विभाजन के लिए कोई व्यवस्था न होने की स्थिति मे शिशिक्षुता एव सीमाकन के नियमो का प्रश्न ही नही उत्पन्न होता था, और न वे विशाल मैत्रिक लाभ कोषो द्वारा प्रदत्त सचित शक्ति पर ही भरोसा कर सकते थे क्योकि वे निर्धन थे। उनके लिए केवल मात्र तरीका अपनी उस योग्यता को बढाने के रूप मे था जिसमे वे नियोक्ता से प्रत्येक श्रमिक के लिए पृथक व्यक्तिगत सौदे के स्थान पर श्रमिको के समस्त समूह की ओर मे सामूहिक सौदाकारी को प्रतिस्थापित

एक दूसरे के क्षेत्र में प्रवेश करने वाले और प्राय परस्पर प्रतिस्पर्धा करने वाले संघों के उदय के रूप में हुआ जिनकी संख्या एक हजार से भी अधिक थी। सामूहिक सौदाकारी की प्रभावोत्पादकता में वृद्धि करने के उद्देश्य से संगठन की विशाल इकाइयों की पर्याप्त आवश्यकता अनुभव की गई जिसके फलस्वरूप अनेक पृथक संघों का एकीकरण एवं संघीकरण हुआ। अनेक पृथक शिल्प-संघों का विलयन (merger) कर दिया गया, जैसाकि इन्जीनियरिंग उद्योग में हुआ, जहा अनन्त 'एमलगमेटेड इन्जीनियरिंग यूनियन' को इन्जीनियरों की पुरानी एकीकृत समिति में से निर्मित किया गया और साथ में अन्य कई शिल्प-संघ बनाये गये। अदक्ष श्रमिकों के अनेक अधिव्यापन करने वाले (overlapping) संघों का विलीन अथवा संघीकृत कर दिया गया, जैसाकि परिवहन श्रमिकों के संघ की दशा में किया गया। किन्तु सामान्यतः दक्ष एवं अदक्ष दोनों प्रकार के श्रमिकों का किसी एक औद्योगिक संघ में मिलाने के प्रयास का उन दक्ष शिल्पों द्वारा विरोध किया गया, जिन्हें यह डर था कि किसी बड़ी इकाई में विलीन होने पर वे अपने विशेषाधिकारों से वंचित हो जायेंगे। औद्योगिक संघों के समर्थकों की महत्वपूर्ण उपलब्धि सन् 1913 में रेल कर्मचारियों के राष्ट्रीय संघ के रूप में थी जिसमें रेल-सेवा की समस्त श्रेणियां सम्मिलित थीं। किन्तु इसमें भी लोकोमोटिव इन्जीनियर्स की एकीकृत समिति तथा फायरमैन और रेलवे क्लर्कों का संघ नामक दो शिल्प-संघ सम्मिलित नहीं थे।

5. श्रमिक संघ और राज्य—सामूहिक सौदाकारी के अन्तर्गत यदि सौदाकार अनुकूल शर्तों को प्राप्त करने में सफल नहीं होते तो एक अन्तिम अस्त्र के रूप में हड़ताल का प्रयोग अवश्यम्भावी हो जाता था। जिस प्रकार कि एक व्यक्तिगत सौदे के दो पक्षों में से एक को दूसरे की शर्तों को स्वीकार करने से इन्कार करने का अधिकार प्राप्त न होने पर, वह सौदा स्वतन्त्र सौदा नहीं माना जा सकता, ठीक उसी प्रकार सम्बद्ध पक्षों को, असन्तुष्ट होने की दशा में सौदा पक्का करने से इन्कार करने का पूर्ण अधिकार प्राप्त न होने पर सामूहिक सौदाकारी का कोई अर्थ नहीं रह जाता है। इसका तात्पर्य यह हुआ कि एक ओर नियोक्ताओं को श्रमिकों की शर्तों पर उन्हें नियुक्त करने से इन्कार करने का अधिकार, एवं दूसरी ओर श्रमिकों को मालिक की शर्तों पर काम करने से इन्कार करने अथवा दूसरे शब्दों में हड़ताल घोषित करने का अधिकार प्राप्त होगा। इस प्रकार सामूहिक असहमति की दशा में मालिक गैर-संघियों (Non-unionists) अथवा संघों को छोड़कर चले आने वाले व्यक्तियों अथवा अन्य नगर या व्यवसाय से ऐसे श्रमिकों की सेवायें प्राप्त करने का इच्छुक होगा, जो उसकी शर्तों पर रोजगार स्वीकार करने के लिए तत्पर होते हैं। यदि वह ऐसा करने में सफल हो जाता है तो वह "हड़ताल को तोड़ सकता है", किन्तु यदि वह ऐसा करने में सफल नहीं होता तो उसकी जीत

की आशा संघ के साथ सहनशीलता की परीक्षा द्वारा उस समय तक सीमित होगी जब तक कि श्रमिकों के कोष समाप्त नहीं हो जाते और भुखमरी उन्हें "घुटने टेकने" के लिये विवश नहीं कर देती। हड़ताली अपनी ओर से सफलता के लिए भुखमरी से बचने तथा अधिकाधिक प्रतिरोध करने की अपनी शक्ति पर तो निर्भर होंगे ही, साथ ही वे मालिकों द्वारा अपने कारखानों में 'विश्वासघातियों" (blacklegs) की नियुक्ति को रोक सकने की अपनी क्षमता पर भी भरोसा करेंगे। "घरना" या "पिकेटिंग" का उद्देश्य कारखानों में गैर-संघियों के प्रवेश का रोकना होता है—कारखाने के समस्त प्रवेश द्वारों पर संघ के घरना देने वाले दलों को नियुक्त करना, जिसका प्रत्येक हड़ताल में बहुत अधिक महत्व होता है। ऐसे "अनुनय" (persuasion) के अनेक रूप हो सकते हैं जिसमें किसी विश्वासघाती" को अपने "साथियों का साथ देने" के विषय में नम्र सुझाव देने से लगाकर किसी व्यक्ति के घर को घेर लेने तथा व्यक्तिगत हिंसा के प्रयोग तक सम्मिलित हो सकते हैं। सन् 1871 और 1876 के अधिनियमों के अन्तर्गत स्पष्ट रूप में अथवा संकेत द्वारा धमकियों का प्रयोग न होने पर "शांतिपूर्ण घरने" की अनुमति दी गयी थी[1] इससे हड़तालों को 'व्यवसाय के विरुद्ध" षड्यन्त्र माने जाने की अवैधानिकता को भी समाप्त कर दिया था। किन्तु सन् 1901 में "टैफ वेल केस" के नाम से विख्यात एक महत्वपूर्ण कानूनी निर्णय ने संघों को किसी हड़ताल के समय सदस्यों द्वारा किये गये किन्हीं कार्यों के संयुक्त दायित्व के लिए अभियोग चलाये जाने के खतरे में डाल दिया—किसी हड़ताली द्वारा कोई खिड़की तोड़ दिये जाने पर राष्ट्रीय संघ को उत्तरदायी ठहराया जा सकता था—तथा यही नहीं हड़ताल के फलस्वरूप नियोक्ताओं को होने वाली हानि की क्षतिपूर्ति के लिए भी उस पर मुकदमा चलाया जा सकता था। इस स्थिति ने नये संघों को ही नहीं बल्कि कुछ पुराने संघों को भी परस्पर मिलकर श्रम प्रतिनिधित्व समिति (जिसने आगे चल कर लेबर पार्टी का रूप ले लिया) को गठित करने के लिए, तथा सामूहिक सौदाकारी एवं हड़ताल के अधिकार के लिये वैधानिक मान्यता प्राप्त करने के उद्देश्य से संसद या पालियामेन्ट में स्वतन्त्र उम्मीदवार खड़े करने के लिए बाध्य कर दिया। और उनके

1 किसी व्यक्ति के घर पर "निगाह रखने और उसे घरने", अथवा किसी को 'डराने धमकाने" के उद्देश्य से धरना देने वाले दलों को अधिक संख्या में या विशेष प्रकार से नियुक्त करने के स्पष्ट निषेध के द्वारा सन् 1927 के अधिनियम ने 'शान्तिपूर्ण घरने' की परिभाषा को अत्यन्त संकुचित करने का प्रयत्न किया जिसमें किसी को "सामाजिक बहिष्कार, घृणा, मखौल अथवा अपमान" का पात्र बनाने के प्रयत्नों को डराने धमकाने (intimidation) की परिभाषा में सम्मिलित कर लिया गया। श्रमिक संघों ने इस अधिनियम को सदैव विरोध की भावना से देखा है, तथा द्वितीय विश्व युद्ध के पश्चात् लेबर पार्टी की नई सरकार द्वारा इसे रद्द कर दिया गया।

दबाव के कारण सन् 1906 मे उदारदलीय सरकार द्वारा श्रमिक सघर्ष अधिनियम (Trade Disputes Act) पास किया गया जिसके अनुसार टैफ वेल निर्णय को उलट दिया गया।

अपनी गतिविधियो के लिए कानूनी मान्यता प्राप्त करने के उद्देश्य से एक बार राजनीति मे प्रवेश कर लेने के बाद, श्रमिक सघो द्वारा अपने उद्देश्यो की पूर्ति के लिये सीधी राजनीतिक कार्यवाही का सहारा लेना स्वाभाविक ही था। कानून के द्वारा एक 'मानक दर" को स्थापित करने के उद्देश्य से इसन श्रम बाजार मे राज्य के हस्तक्षेप को प्राप्त करने की नीति के लिये मार्ग प्रशस्त करने, और इस प्रकार विशेषकर बहुत कम मजदूरी पाने वाले श्रमिको के पूर्ति मूल्य का बढाने मे सहायता की। दूसरे शब्दो मे, इसका परिणाम न्यूनतम वैधानिक मजदूरी की नीति के रूप मे हुआ।

6 सुधारवादी बनाम क्रान्तिकारी श्रमिक सघवाद —विस्तृत मजदूरी की दरो के बारे मे सौदाकारी की स्थिति से गुजर जाने क बाद एक सामान्य राजनीतिक नीति को आगे बढाने की दिशा मे नवीन सघवाद ने एक निश्चित सामाजिक विचार-दर्शन को अपनाना आरम्भ कर दिया। इगलैंड मे यह सामाजिक विचारदर्शन राजकीय समाजवाद के नाम से प्रसिद्ध हो चुका है, जबकि महाद्वीपीय समाजवादी देशो मे इसे सुधारवाद की सज्ञा दी गई है। इस प्रणाली के साथ सलग्न सम्पत्तिवान एव सम्पत्तिहीन वर्गों के सह-अस्तित्व को मानते हुए इसमे मजदूरी प्रणाली की प्रमुख विशेषताओ एव सस्थाओ को स्वीकार किया गया (कम से कम कुछ समय के लिए), किन्तु साथ ही श्रमिक-सघो को मजदूरी-प्रणाली की एक मान्य सस्था की भाति वैधानिक स्थिति प्रदान किये जाने तथा न्यूनतम मजदूरी अधिनियम और ऐसे ही अन्य उपायो के द्वारा श्रमिको के जीवन स्तर को बढाने के उद्देश्य मे श्रम-बाजार मे राजकीय हस्तक्षेप का विस्तार करने का प्रयत्न भी इसमे निहित था। कुछ दशाओ मे इसके अन्तर्गत निजी नियोक्ताओ के राजकीय नियन्त्रण एव अधिक्रमण की भी व्यवस्था थी।

किन्तु श्रमिक क्षेत्रो मे श्रमिक सघ-नीति के सही लक्ष्य के इस विचार के बारे मे महत्वपूर्ण वैकल्पिक मत व्यक्त किये गये। प्रथम विश्व युद्ध के पहले इस राष्ट्र के लिये विकल्प का कोई अधिक महत्व नहीं था क्योकि अनुकूल आर्थिक दशाओ के कारण श्रमिक वर्ग के जीवन स्तर मे सरलता से सुधार किया जा सकता था, किन्तु विशेषत. यूरोप महाद्वीप मे युद्धो के बीच की अवधि मे इसका महत्व पर्याप्त रूप से बढ गया। क्रान्तिकारी श्रमिक सघवाद के नाम से प्राय सम्बोधित इस वाद की नीति के अनुसार श्रमिक-सघो का यह एक कर्त्तव्य माना गया कि वे मजदूरी-प्रणाली के विरुद्ध सघर्ष को जारी रखने मे अगुओ का काम उस समय

समझौतो के स्थान पर व्यक्तिगत सौदो की प्रतिस्थापना करना था। कभी-कभी *सहभागिता एव लाभ-भागिता (Profit sharing) की योजनायें (जिनका विवेचन तृतीय अध्याय मे किया जा चुका है)* श्रमिक सघो क प्रति योजना म भाग लेने वाले श्रमिको की सलग्नता को कमजोर करने वाली शर्तों क साथ अथवा उनक बिना लागू की जाती है। श्रमिक सघो को पूर्णत मान्यता देते हुए और उनक साथ समझौता-वार्ता जारी रखते हुये भी अनेक दशाओ मे नियोक्ताओ ने, फर्म के प्रति निष्ठा मे वृद्धि करने, औद्योगिक अशान्ति को कम करने और श्रमिक को काम करने की इच्छा और कुशलता म वृद्धि करने के उद्देश्य से निर्वाचित *कारखाना समितियो* (Works Committees) के सगठन को प्रोत्साहन दिया है। कारखाने के श्रमिको के द्वारा निर्वाचित ये कारखाना समितिया कभी-कभी प्रबन्धको के समक्ष शिकायतो को प्रस्तुत करने का साधन मात्र होती है, कभी कभी उनके कार्य परिवर्तनो एव नवीन पद्धतियो के बारे मे अपना मत व्यक्त करने के सम्बन्ध मे निश्चित परामर्श देने के होते हैं जैसे फोरमैन की नियुक्ति, नवीन प्रक्रियाओं का चलन, पारी-प्रणाली (Shift System) मे परिवर्तन, तथा कभी-कभी कुछ सीमा तक किन्ही विशिष्ट कार्यों का नियन्त्रण उन्हे दे दिया जाता है, जैसे कि कल्याणकारी कार्य, सफाई, अथवा अनुशासन एव समय-निरीक्षण सम्बन्धी गौण मामले। इस देश मे प्रत्येक कारखाने मे ऐसी परिषदो की स्थापना का सुझाव ह्विटले-समिति द्वारा दिया गया था जिसकी स्थापना सरकार द्वारा प्रथम विश्व युद्ध के समय की गयी थी तथा सन् 1920 तक नियोक्ताओ के प्रयास से 1000 ऐसी परिषदें स्थापित की जा चुकी थी, किन्तु कुछ समय बाद ही उनमे से अधिकाश समाप्त हो गयी। सन् 1920 से 1932 के बीच जर्मनी मे कारखाना-समितिया वैधानिक रूप से अनिवार्य थी, तथा उन्हे मामूली किस्म के कुछ स्पष्ट वैधानिक अधिकार प्राप्त थे। अधिकाश दशाओ म श्रमिक सघ परिषदो मे निर्वाचन के लिये अपने उम्मीदवार खडे करते थे और वे प्राय उनके प्रभाव मे थी, किन्तु कुछ दशाओ म नियोक्ता, कारखाना परिषदो का उपयोग सामूहिक सौदाकारी के सिद्धान्त को तोडने के लिये करते थे।[1]

श्रमिक सघो ने अपनी ओर से सामान्य सामूहिक सौदाकारी के तर्कसगत विकास के रूप मे नियन्त्रण मे कुछ भाग प्राप्त करने की माग प्रस्तुत की हैं। किसी नियोक्ता एव श्रमिक-सघ मे कोई मजदूरी-समझौता सम्पन्न हो जाने पर भी प्राय किसी विशिष्ट स्थिति मे समझौते की शर्तों को लागू करने मे व्याख्या सम्बन्धी विस्तृत बातें शेष रह जाती हैं। इनमे जो तथ्य आते हैं वे हैं तौल एव माप (जिनका विवेचन तृतीय अध्याय मे किया गया था) काम के घटो एव समयोपरि कार्य का प्रश्न, तथा दक्ष श्रमिको की दशा मे शिशिक्षुता के नियम और कार्य के सीमा विभाजन

1. सी डब्ल्यू गुडरीच, 'दी वर्क्स काउन्सिल' पृष्ठ 62

के प्रश्न । उजरत-दरों पर कार्य करने की दशा में व्याख्या सम्बन्धी कठिनाइयां विशेष रूप से अधिक होती हैं क्योंकि मूल्य सूची में उस श्रेणी का प्रश्न सदैव उत्पन्न हो जाता है जिसमें कोई विशिष्ट कार्य सम्मिलित किया गया हो जबकि अत्यन्त व्यापक मूल्य सूची भी कार्यों की विभिन्नता की अपेक्षाओं को कठिनाई से ही पूरा कर पाती है और नवीन प्रकार के कार्यों एवं नवीन प्रक्रियाओं के नियमों निश्चय ही वह अपर्याप्त होती है। यह स्वाभाविक है कि सामूहिक सौदाकारी के उद्देश्यों का पालन करने वाला कोई भी श्रमिक-संघ किसी समझौते की सामान्य शर्तों के निर्धारण मात्र से ही सन्तुष्ट नहीं होगा, बल्कि वह यह भी चाहेगा कि विस्तार से उन शर्तों को लागू करने की रीति में भी उसका कुछ हाथ रहे। इसके अतिरिक्त श्रम के विक्रय की यह विशिष्टता होती है। अन्य पदार्थों के विपरीत, अपने विक्रय की वस्तु में विक्रय का कार्य समाप्त हो जाने के बाद भी, श्रम के विक्रेता का हित समाप्त नहीं हो जाता बिकी हो जाने के उपरान्त भी उसके श्रम का जिस ढंग से उपयोग किया जाता है उसमें उसका प्रमुख सम्बन्ध होता है। यदि रोजगार के स्थान एवं तरीके में स्वास्थ्य एवं जीवन के लिये खतरा निहित है तो सामान्य परिस्थितियों के अन्तर्गत उत्तम समझी जाने वाली मजदूरी भी "न्यून" हो सकती है। कुछ व्यवसायों में पहले से ही कारखाने के अन्दर कार्य की दशायें नियोक्ताओं और श्रमिक-संघों के मध्य सामूहिक समझौतों के द्वारा निर्धारित होती हैं। वस्त्र की बुनाई में ऐसी शर्तों की व्यवस्था होती है कि भाप की अनुचित मात्रा वाले स्थानों में श्रमिकों से काम करने के लिये नहीं कहा जायगा तथा चीनी मिट्टी के बर्तन बनाने वाले धन्धों में भट्टी के समक्ष कार्य करने वाले श्रमिक से 120 डिग्री से अधिक तापक्रम में काम नहीं लिया जायगा। सामूहिक सौदाकारी की प्रगति के साथ साथ कारखाने के अन्दर कार्य की दशाओं के नियन्त्रण में भाग लेने तथा उजरत के कार्य की दरों की व्याख्या करने, कार्य का सीमा विभाजन, कार्य घंटों एवं समयोपरि शर्तों को निर्धारित करने की मांग स्वाभाविक रूप से आगे बढ़ती है, तथा जैसे-जैसे श्रमिक संघ शक्तिशाली बनते जाते हैं वे आवश्यक रूप से श्रमिकों के हितों को प्रभावित करने वाले व्यापक विषयों में भाग प्रदान किये जाने की मांग प्रस्तुत करते हैं—अर्थात् ऐसे विषयों में जैसे बेरोजगारी पर पड़ने वाले प्रभाव की सीमा तक व्यावसायिक नीति, भरती एवं कार्य से मुक्ति की रीतियां (जैसे अस्थायी मजदूरी की समस्या) और यहां तक कि व्यवसाय द्वारा उत्तम मजदूरी दिये जाने की क्षमता पर पड़ने वाले प्रभाव की सीमा तक उद्योग का सामान्य संगठन।

द्वितीय विश्व युद्ध के समय युद्ध से सम्बद्ध उद्योगों में संयुक्त उत्पादन-समितियों के नाम की संस्थाओं का गठन किया गया जिनका सम्बन्ध कारखाने में उत्पादन में सुधार करने तथा इस उद्देश्य की पूर्ति की दिशा में श्रमिकों की निहित पहल व प्रेरणा को संगठित करने से था। इन संस्थाओं के विषय में रोचक एवं

महत्वपूर्ण बात यह थी कि इनकी स्थापना मे पहले श्रमिक-सघवादियो और विशेषत उनके प्रवक्ताओ (वर्कशाप स्तर या कारखाना स्तर पर प्रबन्धको से बातचीत करने मे उनका प्रतिनिधित्व करने के लिये प्रत्येक वर्कशाप मे श्रमिक सघो के सदस्यो द्वारा निर्वाचित व्यक्तियो) की ओर से की गयी थी। प्रथम विश्व युद्ध के समय सघर्षवादी श्रमिक-सघवादियो मे व्याप्त दृष्टिकोण के विपरीत इस नवीन प्रगति ने *श्रमिक-सघवादियो के एक महत्वपूर्ण अग मे उत्पादन की समस्याओ के बारे मे* एक नवीन दृष्टिकोण का विकास किया — एक ऐसा दृष्टिकोण था जिसके अनुसार यह नितान्त रूप से केवल प्रबन्धको या 'उच्च अधिकारियो" का ही कार्य न होकर श्रमिक वर्ग का भी उत्तरदायित्व माना गया।[1] अक्तूबर सन् 1941 म इन्जीनियरिंग एण्ड एलाईड ट्रेड्स शोप स्टयुअर्डस नेशनल काउन्सिल ने इस प्रश्न के प्रति रुचि जागृत करने और अनुभव को एकत्र करने क उद्देश्य से एक गैर-*सरकारी सम्मेलन* का आयोजन किया। *लगभग उसी समय इन्जीनियरिंग व्यवसायों* के प्रमुख श्रमिक सघ एमलगमेटेड इन्जीनियरिंग यूनियन ने अपनी शाखाओ मे उत्पादन के प्रश्नो से सम्बद्ध अनेक अन्वेषणो पर कार्य प्रारम्भ किया, तथा अगले वर्ष फरवरी और मार्च मे सप्लाई मन्त्रालय के अन्तर्गत युद्ध सामग्री सम्बन्धी कार-खानो के महानिदेशक तथा इन्जीनियरिंग एव सम्बद्ध नियोक्ता सघ के साथ समझौते किये जिनके अनुसार प्रत्येक कारखाने मे सयुक्त उत्पादन समितियो की *स्थापना को प्रत्येक सम्भव प्रोत्साहन दिये जाने का निश्चय किया गया।* इन सस्थाओ के गठन मे प्रबन्धको के प्रतिनिधि और प्रत्येक कारखाने के श्रमिको द्वारा निर्वाचित प्रतिनिधि सम्मिलित थे। वे प्राय. शोप स्टुयुअर्ड समितियों अथवा कार-खाना-समितियो से जिनका सम्बन्ध मुख्यत मजदूरी के प्रश्नो से था पृथक थी, यद्यपि दोनों प्रकार की समितियो मे कुछ कर्मचारी एक से थे। युद्ध की अवधि मे स्थापित ऐसी सस्थाओ की कुल सख्या ज्ञात नही है। किन्तु सन् 1942 की शरद् ऋतु मे *'एमलगमेटेड इन्जीनियरिंग यूनियन' ने लगभग 900 ऐसी फर्मों का सर्वेक्षण* करके जिनमे साढे बारह लाख श्रमिक थे यह व्यक्त किया कि उनमें से लगभग 550 मे सयुक्त उत्पादन समितिया थी, जिनमे से 88 प्रतिशत ने उत्पादन की समस्याओ का उनके सही अर्थ मे अध्ययन किया (जैसे कि अनुपस्थिति, श्रम-शक्ति एव मशीनों औजार-क्षमता का सुधरा हुआ उपयोग, सयन्त्रो को स्थापित करने, इनकी प्रगति निरीक्षण एव डिजाइन, प्रशिक्षण एव अवकुशलन (Dilution) तथा कल्याणकारी समस्याओ पर विचार-विमर्श किया, तथा मार्च सन् 1943 म *इन्जीनियरिंग*

---

1. अन्तर्राष्ट्रीय-श्रम-संगठन द्वारा ब्रिटिश ज्वाइन्ट प्रोडक्शन मशीनरी (Study A No 43, 1944) में "कारखानों में उत्पादन-समितियों के स्वयं प्रेरित विकास का प्रमुख कारण" *युद्ध में रूस के प्रवेश तथा "रूस में संत्रं श्रमिकों के योगदान के विषय में किये गये प्रचार* को माना गया।" (13)

एम्प्लायर्स फेडरेशन द्वारा किये गये सर्वेक्षण के अनुसार यह ज्ञात हुआ कि उत्तर देने वाली 54 प्रतिशत फर्मों का यह विचार था कि ऐसी समितियों का कार्य पूर्णत: सन्तोषजनक था जबकि अन्य 23 प्रतिशत का यह मत था कि वे सामान्यतः सफल थीं। कोयला-खनन उद्योग में स्थापित खान-उत्पादन समितियों का कार्य कुल मिलाकर कम सफल था (जिसका कारण निःसन्देह प्रबन्धकों एवं श्रमिकों में अनेक वर्षों से कटु सम्बन्धों का होना था)। किन्तु युद्ध के बाद सरकार द्वारा उद्योग के भावी राष्ट्रीयकरण एवं पुनर्गठन के विषय में की गयी घोषणा के पश्चात् उन्हें फिर से शक्ति प्रदान करने के प्रयास किये गये तथा खनिकों के श्रमिक संघ ने कोयले के अधिक उत्पादन के लिये सरकार के आन्दोलन में सहयोग देने के लिये एक विशेष उत्पादन अधिकारी की नियुक्ति की। किन्तु इन्जीनियरिंग उद्योग में युद्ध की आपात्कालीन स्थिति द्वारा लागू विशेष आवश्यकताओं की समाप्ति के साथ ही इनमें से अधिकांश समितियाँ या तो भंग कर दी गयीं अथवा निष्क्रिय हो गयीं, हालांकि श्रमिक-संघों एवं नियोक्ताओं के संघों के बीच युद्धकालीन व्यवस्थाओं को युद्धोत्तर काल में भी जारी रखने का समझौता हो चुका था।

8 सामूहिक सौदाकारी की व्यवस्था —सामूहिक सौदाकारी की वास्तविक व्यवस्था जैसे-जैसे उसका विकास होता जाता है उस व्यवस्था में क्रमशः विलीन होती जाती है, जिसे औद्योगिक नीति पर श्रमिकों के नियन्त्रण का एक आरम्भिक स्वरूप कहा जा सकता है। अत्यन्त अविकसित एवं प्रारम्भिक चरण में सामूहिक सौदाकारी नियोक्ता द्वारा श्रमिक संघ को उसके सदस्यों की ओर से बोलने का अधिकार दिये बिना व्यक्तिगत नियोक्ता और उसके श्रमिकों के प्रतिनिधि मण्डल के बीच बातचीत का रूप ले लेती है। द्वितीय चरण में समय समय पर एक ओर व्यक्तिगत नियोक्ताओं अथवा नियोक्ताओं के संघ के अधिकारियों तथा दूसरी ओर श्रमिक संघ के अधिकारियों के बीच भेंटवार्ता करने के विषय में पर्याप्त मान्यता प्राप्त करने में श्रमिक संघ सफल हो जाता है। नियमानुसार ऐसे विवादास्पद प्रश्नों के उत्पन्न होने पर तथा उस समय नियोक्ताओं की सहमति लेकर ही ऐसी भेंटवार्तायें होती हैं। इसके बाद जो चरण आता है वह उस समय आता है जब दोनों ओर से किसी भी पक्ष के निवेदन पर एक संयुक्त सभा का आयोजन करने के लिए दोनों पक्ष सहमत हो जाते हैं। इसमें भी कोई वास्तविक विवाद उत्पन्न हो जाने के बाद ही सभाओं का आयोजन किया जाता है, किन्तु कोई भी कार्यवाही करने से पहले दोनों पक्ष परस्पर मिलने और समझौता वार्ता करने के लिए बाध्य होते हैं। अन्तिम चरण में सामूहिक सौदाकारी अपने सबसे अधिक विकसित रूप में उस समय दृष्टिगोचर होती है, जब दोनों पक्षों की एक संयुक्त समिति के रूप में कोई निर्धारित व्यवस्था की जाती है, अथवा नियोक्ताओं और श्रमिक संघों के प्रतिनिधियों द्वारा गठित किसी ऐसे समझौता-मण्डल का निर्माण किया जाता है

जो प्रचलित कार्य-कलापो का विवेचन करने के लिए समय-समय पर सभाओ का आयोजन करता है तथा जिसके लिए निश्चित सविधान एव कार्यविधि सम्बन्धी नियम होते हैं। इस देश मे प्रथम विश्व युद्ध के ठीक पहले तक रेल कम्पनियो सहित नियोक्ताओ के महत्वपूर्ण समूह-श्रमिक सघों को, अपने कर्मचारियो की ओर से सौदा करने के अधिकार को मान्यता देने से इन्कार करते थे, तथा अमरीकन उद्योग मे रूजवेल्ट-प्रशासन के उपरान्त ही सामूहिक सौदाकारी अपने बहुत ही प्रारम्भिक प्रथम चरण को पार करके आगे बढ सकी। किन्तु आज ब्रिटेन के प्रमुख उद्योगो मे उपरोल्लिखित चतुर्थ चरण के अनुरूप स्थायी व्यवस्था विद्यमान है और इससे पहले कि विवाद हडताल अथवा नियोक्ताओ की तालाबन्दी की विकट स्थिति तक पहुचे, किसी समझौते पर पहुचने के उद्देश्य से निरन्तर समझौता वार्ता की जाती है। कुछ दशाओ मे ऐसी व्यवस्था सर्वथा स्थानीय प्रकृति की होती है, जबकि अन्य दशाओ मे इसकी प्रकृति राष्ट्रीय होती है जिसमे समस्त उद्योग सम्मिलित होते हैं, तथा अनेक दशाओ मे राष्ट्रीय स्तर एव जिला स्तर दोनो स्तरो पर ऐसी व्यवस्था होती है, तथा श्रमिक सघ प्राय: राष्ट्रीय समझौता-वार्ताओ और राष्ट्रीय समझौतो को अधिक पसन्द करते हैं, क्योकि ऐसी दशा मे समस्त उद्योग के लिए एक मानक स्तर की स्थापना किये जाने की सर्वाधिक सम्भावनायें होती हैं। कुछ दशाओ मे यदि दोनो पक्ष समझौते के आधार पर सहमत नही होते, तो विवाद को किसी निष्पक्ष विवाचक या पच (arbitrator) को सौंपे जाने की विशेष व्यवस्था होती है। स्थिति की विशेषताओ के सन्दर्भ मे विवाचक अपना निर्णय देता है तथा दोनो पक्षो को इच्छानुसार निर्णय को स्वीकार करने अथवा अस्वीकार करने की स्वतन्त्रता होती है।

9 **समझौता एव विवाचन या पच-निर्णय**—ब्रिटेन मे सरकार द्वारा उपर्युक्त प्रकार की समझौता-व्यवस्था की स्वैच्छिक स्थापना को प्रोत्साहित किया गया है। सन् 1896 के समझौता-अधिनियम (Conciliation Act) मे दोनो पक्षों के सहमत होने तथा नागरिक अनुबन्धो का सम्बल प्राप्त होने की दशा मे समझौता-मण्डलो द्वारा कराये गये समझौतो के पजीकरण की व्यवस्था थी और उसके द्वारा, दोनो पक्षो द्वारा आवेदन-पत्र देने पर विवाद के विषय मे निर्णय देने के लिए व्यापार-मण्डल को विवाचक नियुक्त करने का अधिकार प्रदान किया गया था। सन् 1919 के औद्योगिक न्यायालय अधिनियम (The Industrial Courts Act) ने इन व्यवस्थाओ का विस्तार कर दिया जिसके अनुसार एक ऐसे औपचारिक विवाचन-न्यायालय की स्थापना की व्यवस्था की गयी जिसे स्वैच्छिक आधार पर विवाद सौंपे जा सकते थे तथा श्रम-मन्त्री को किसी विवाद के तत्वो की जाच करने और उन्हे प्रकाशित करने के लिये जाच-न्यायालय की स्थापना का अधिकार दिया गया। व्हिटले समिति का प्रस्ताव था कि नियोक्ताओ और श्रमिको

की सगठित सस्थाम्रो वाले प्रत्येक उद्योग म एक ऐसी स्थायी सयुक्त औद्योगिक परिषद् की स्थापना की जानी चाहिए जिसम नियोक्ताम्रो और श्रमिको दोनो का प्रतिनिधित्व हो तथा विद्यमान कार्य-कलापो पर विचार-विमर्श के लिय नियमित सभायें करने की व्यवस्था हो। इनकी स्थापना अनिवार्य नही होनी चाहिए, बल्कि श्रम-मत्रालय द्वारा इनकी स्थापना को 'प्रोत्साहित' किया जाना चाहिए और उसक द्वारा उन्हे प्रत्येक समत्र सुविधा दी जानी चाहिए। किन्तु यह कार्य यही तक सीमित रहा और प्रथम विश्व युद्ध के बाद क वर्षों मे व्हिटले परिषदो क नाम से सम्बोधित इन समितियो की स्थापना अनेक उद्योगो मे की गयी। प्रतिवेदन क निर्माताओ का मूल अभिप्राय यह था कि समझौता-मण्डलो (जो बडे उद्योगो मे पहले से ही विद्यमान थ) क रूप मे आरम्भ होकर इनमे क्रमश ऐसे व्यापक विषयो पर विचार-विमश किया जाना चाहिये जिनका सम्बन्ध उद्योगो से हो ताकि य वस्तुतः सयुक्त नियन्त्रण के अधिकार से सम्पन्न उद्योगो की ससदो का रूप ले सकें। व्यवहार मे इन्होने समझौता मण्डलो से भी अधिक प्रगति इस अर्थ मे की है कि इनकी सभायें केवल विवाद उत्पन्न होने पर ही नही, बल्कि नियमित रूप मे होती हैं। ऐसे विषयो पर, जिन्हे नियोक्ता उनके समक्ष रखने के प्रति अनिच्छुक होते हैं, विचार करने के अधिकार से विहीन, तथा बहुमत द्वारा किये गये निर्णय की अपेक्षा दोनो पक्षो के बीच केवल समझौते के द्वारा ही कुछ उपलब्ध करने की क्षमतायुक्त इनका कार्य मुख्यत मजदूरी एव कार्य के घण्टो के विषय मे समझौतो क विवेचन तक ही सीमित रहा है। व्हिटले समिति का यह अभिप्राय था कि किसी भावी तिथि से सरकार द्वारा व्हिटले परिषदो के निर्णयो को वैधानिक शक्ति प्रदान करने के लिए सरकार द्वारा कार्यवाही की जानी चाहिये, जिससे मजदूरी एव कार्य की दशाओ से सम्बन्धित उनके समझौते समस्त व्यवसायो पर अनिवार्य रूप मे लागू किये जा सकें और कुछ समय बाद बूट एव जूता उद्योग की व्हिटले परिषद् तथा ट्रेड्स यूनियन काग्रेस दोनो ने इस अभिप्राय म अपने अपने सुझाव दिये। इस अभिप्राय को सामान्य रूप से क्रियान्वित करने की दिशा म कोई कार्यवाही नही की गयी। किन्तु, जैसा कि हम अगले अध्याय मे देखेंगे, सन् 1930 मे प्रारम्भ होने वाले दशक मे दो उद्योगो के लिये इसके समान कुछ कार्यवाही उस समय की गयी, जब यह व्यवस्था की गयी कि उद्योग के प्रतिनिधियो के निवेदन पर श्रम-मन्त्री के विशेष आदेश क द्वारा श्रमिको एव नियोक्ताम्रो का प्रतिनिधित्व करने वाली सस्थाओ के मध्य सम्पन्न कोई समझौता समस्त उद्योगो के लिए वैधानिक रूप मे लागू होगा। यह एक ऐसी व्यवस्था थी जिसका उद्योग मे विस्तार द्वितीय विश्व युद्ध के समय एव उसके उपरान्त पाच वर्ष की अवधि तक किया गया।

राज्य एवं मज़दूरी | 8

1. राजकीय हस्तक्षेप —किसी श्रमिक संघ द्वारा जब सामूहिक सौदाकारी के आधार पर "मानक दर" स्थापित करने का प्रयास किया जाता है तो वह वस्तुतः न्यूनतम मजदूरी ही होती है। किन्तु यह प्रस्तावित सौदे की शर्तों पर नियोक्ताओं की सहमति के अधीन होता है तथा केवल उन्हीं फर्मों पर लागू होता है जो स्वैच्छिक रूप से समझौते में शामिल होती हैं, और पंजीकृत (registered) होते हुए भी, जैसी कि सन् 1896 के समझौता-अधिनियम में व्यवस्था है, ऐसा समझौता केवल एक नागरिक अनुबन्ध (civil contract) की भाँति ही लागू हो सकता है जिसके अनुसार यदि कोई श्रमिक संघ व्यय एवं कष्ट वहन करने के लिए तत्पर हो तो तय की हुई दर न चुकाई जाने पर मजदूरी की शेष राशि के लिये नियोक्ताओं के विरुद्ध मुकदमा दायर कर सकता है। किन्तु जब न्यूनतम कानूनी मजदूरी को स्थापित करने के उद्देश्य से राज्य की सहायता प्राप्त की जाती है, तो यह न्यूनतम मजदूरी समस्त उद्योग अथवा उसके किसी विशेष भाग पर अनिवार्य रूप से लागू की जा सकती है और यदि कोई नियोक्ता कानूनी दर से कम मजदूरी देता है तो यह कानून के अन्तर्गत एक दण्डनीय फौजदारी अपराध होगा।

न्यूनतम मजदूरी को लागू करने की व्यवस्था व विधि विभिन्न प्रकार की होती है। प्रथम, प्रत्येक उद्योग के लिए नियुक्त अस्थायी मण्डलों द्वारा विभिन्न उद्योगों के लिये विभिन्न न्यूनतम राशि निर्धारित की जा सकती है। द्वितीय, कोई राष्ट्रीय आयोग विभिन्न उद्योगों के लिये न्यूनतम राशि का निर्धारण कर सकता है और विभिन्न दशाओं में

न्यूनतम राशियों में किस सीमा तक अन्तर रखा जाय—इस विषय में निर्णय आयोग के विवेक पर छोड़ दिया जाता है। तृतीय, संसद द्वारा पास किए गए अधिनियम के द्वारा एक ऐसी वास्तविक राशि निर्धारित कर दी जाती है जो समस्त देश में न्यूनतम की भांति लागू होती है। प्रथम दशा में, विभिन्न उद्योगों के लिए निर्धारित न्यूनतम राशियों में पर्याप्त अन्तर हो सकता है, क्योंकि इनका निर्धारण भिन्न सिद्धान्तों के आधार पर और उद्योगों की भिन्न दशाओं के अनुसार किया जाता है, जिसका परिणाम यह होता है कि मजदूरी के स्तर के लिए सापेक्ष 'औचित्य" के सिद्धान्त, जिसकी परिभाषा अध्याय 6 में दी जा चुकी है, का पालन नहीं किया जा सकता। द्वितीय दशा में विभिन्न न्यूनतम राशियां, मोटे रूप से, अधिक समान तथा अधिक समन्वित हो सकती हैं। किन्तु इसके विपरीत, किसी उद्योग विशेष के लिए नियुक्त मण्डल की अपेक्षा एक राष्ट्रीय संस्था किसी विशिष्ट उद्योग की निश्चित दशाओं से कम अवगत होगी। तृतीय दशा में, संसद के अधिनियम द्वारा निर्धारित कोई राशि कम लोचपूर्ण एवं अनुकूल होगी और साथ ही कुछ उद्योगों में जहां निम्न श्रेणी के श्रम का उपयोग होता है, यह इतनी ऊंची हो सकती है कि जिससे यह रोजगार में बाधक हो जाय, जबकि अन्य उद्योगों में विद्यमान प्रतिमानों की तुलना में यह इतनी कम हो सकती है कि एक न्यूनतम के रूप में इसका कोई महत्व ही न रहे। इंगलैंड में व्यापार मण्डल प्रणाली के अन्तर्गत तथा आस्ट्रेलिया के विक्टोरिया एवं तस्मानिया जैसे राज्यों में प्रमुख रूप से विद्यमान मजदूरी बोर्डों या वेतन-मण्डलों के अन्तर्गत जो रीति अपनाई गयी वह प्रथम रीति के अन्तर्गत सम्मिलित की जा सकती है। संयुक्त राज्य अमरीका, न्यू साउथ वेल्स, क्वीन्सलैंड, वेस्ट आस्ट्रेलिया तथा न्यूजीलैंड एवं कनाडा के कुछ भागों में द्वितीय रीति प्रचलित रही है। तृतीय रीति का उदाहरण न्यू साउथ वेल्स का सन् 1908 का न्यूनतम मजदूरी-अधिनियम है जिसके अधीन 4 शिलिंग प्रति दिन से कम पर किसी व्यक्ति को काम पर नियुक्त करना निषिद्ध था। क्वीन्सलैंड, विक्टोरिया, वेस्ट एवं साउथ आस्ट्रेलिया, न्यूजीलैंड तथा संयुक्त राज्य अमरीका के कुछ राज्यों में इसी प्रकार के अधिनियम प्रचलित हैं।

2 मजदूरी-परिषद् प्रणाली सन् 1909 के व्यवसाय मण्डल अधिनियम (Trade Boards Act) के अन्तर्गत इंगलैंड में इस प्रकार के प्रथम अधिनियम का उद्देश्य विशेष कर "शोषित-धन्धों" (sweated trades) की समस्याओं को सुलझाना था। अतः इसका उद्देश्य सर्वत्र मजदूरी के सामान्य स्तर को बढ़ाना उतना नहीं था जितना कि उन क्षेत्रों में श्रम के पूर्ति-मूल्य में वृद्धि करना था जहां वह असाधारण रूप से कम था और इन धन्धों में मजदूरी की दरों को, उसी प्रकार के कार्य के लिए, अन्यत्र किए जाने वाले परम्परागत भुगतान की तुलना में, 'औचित्य" के सिद्धान्त के अनुसार समायोजित करना था। यह अधिनियम चार व्यवसायों पर

लागू किया गया—वस्त्रो की सिलाई, कागज के डिब्बो का निर्माण मशीनो से बने फीते, तथा जंजीर-निर्माण और इनके अधीन व्यवसाय मण्डल को यह अधिकार दिया गया कि वह (संसद द्वारा अनुमोदन प्राप्त करके) "इस बात से सन्तुष्ट होने पर किसी उद्योग की किसी शाखा मे अन्य धन्धो की तुलना मे मजदूरी की दर असामान्य रूप से कम है" ऐसे उद्योगो के लिये इस प्रकार की व्यवस्था स्थापित कर सकता है। इन मण्डलो की विशेषता (बाद की व्हिटले परिषदो के विपरीत) यह थी कि इनका निर्माण अनिवार्य था और इनकी प्रकृति मुख्यत प्रतिनिधि किस्म की थी क्योकि इनके गठन मे उद्योग के नियोक्ताओं एव श्रमिको का प्रतिनिधित्व करने वाले चुने हुए व्यक्ति सम्मिलित किये जाते थे। अत ऐसे व्यक्ति जो तत्सम्बन्धी व्यवसाय की प्रकृति से अवगत थे, मण्डल को प्रमुख विशिष्टता प्रदान करते थे और इस अ श तक यह उद्योग द्वारा स्वय अपने लिए अधिनियम पास करने का एक उदाहरण था। किन्तु राज्य के दृष्टिकोण का प्रतिनिधित्व करने के लिए कुछ "नामजद सदस्य" जो प्राय अर्थशास्त्री अथवा प्रमुख सामाजिक कार्यकर्ता, अथवा कभी-कभी वकील भी होते थे—मण्डल मे सम्मिलित किये जाते थे और व्यवहार में दोनो पक्षो के मध्य किसी निर्णय को सम्पन्न करवाने मे इनके मत का पर्याप्त प्रभाव होता था। मण्डल का यह कर्त्तव्य था कि वह न्यूनतम दर के रूप मे एक उचित दर निर्धारित करे। यह आवश्यकता होने पर किन्ही विशेष जिलो अथवा उद्योगों के क्षेत्रो के लिए उप-मण्डलो की नियुक्ति कर सकता था और इन उप-मण्डलों को स्वय निर्णय लेने का अधिकार तो नही होता था, किन्तु इन्हे राष्ट्रीय मण्डल को सुझाव देने का अधिकार अवश्य सौपा जाता था, तथा राष्ट्रीय मण्डल को यह विकल्प प्राप्त था कि या तो वह समस्त व्यवसाय के लिए एक न्यूनतम दर निर्धारित करे, अथवा अपने उप-मण्डलों के परामर्श पर न्यूनतम दर मे विभिन्नता का समावेश इस प्रकार से करे कि वह विभिन्न जिलो की भिन्न दशाओं की आवश्यकतो के अनुकूल हो सके। तत्पश्चात् व्यवसाय मण्डल की सम्पुष्टि के अधीन इसके द्वारा निर्धारित दर अथवा दरो की राशि उस उद्योग के लिये ऐसी कानूनी न्यूनतम दर मानी जाती थी जो दण्डविधान के अन्तर्गत लागू होती थी। सन् 1913 तक प्रारम्भिक चार व्यवसायो की सूची मे चार व्यवसाय और जोडे जा चुके थे और सन् 1918 तक 13 मण्डल कार्यशील थे तथा इनमे नौ उद्योग एव पाच लाख श्रमिक सम्मिलित थे। इगलैंड मे न्यूनतम मजदूरी-अधिनियम के अन्य उदाहरण (युद्धकालीन सैनिक व्यवसायो के विशिष्ट उदाहरण के अतिरिक्त) केवल कृषि एव कोयला-खनन मे पाये गये थे। सन् 1912 के कोयला खान न्यूनतम मजदूरी अधिनियम, जिसे उस वर्ष की कोयला हडताल के बाद पास किया गया, प्रमुख कोयला खानो मे ऐसे जिला मण्डलो का गठन किया गया जिनमे स्वतन्त्र अध्यक्ष के अतिरिक्त नियोक्ताओ एव श्रमिकों के प्रतिनिधि सम्मिलित थे और उन्हें ऐसी न्यूनतम दरो के निर्धारण का अधिकार दिया गया जिससे नीचे उजरत

पर काम करने वाले श्रमिकों की आय नहीं गिर सकती थी। सन् 1917 में अन्न-उत्पादन-अधिनियम के द्वारा कृषि के लिए 25 शिलिंग के रूप में एक राष्ट्रीय न्यूनतम दर स्थापित की गयी। यह युद्धकालीन व्यवस्था सन् 1920 में समाप्त कर दी गई और सन् 1924 के पश्चात् न्यूनतम दरें ऐसे जिला मजदूरी-बोर्डों के द्वारा निर्धारित की गयीं जिनमें कृषि-मन्त्रालय द्वारा "नामजद सदस्यों" के अतिरिक्त कृषकों एवं कृषि-श्रमिकों के प्रतिनिधि सम्मिलित थे। अतः इन दोनों दशाओं में दरों का निर्धारण राष्ट्रीय संस्थाओं की बजाय जिला संस्थाओं का दायित्व था।

प्रथम विश्व युद्ध के समय ह्विटले समिति ने यह सुझाव दिया कि व्यापार-मण्डलों के कार्यों का विस्तार किया जाना चाहिये और विशेष रूप से शोषित व्यवसायों के लिए कार्य करने के साथ-साथ इनके कार्यक्षेत्र का विस्तार सामूहिक सौदाकारी का स्थान लेने के लिए ऐसे समस्त असंगठित व्यवसायों तक कर दिया जाना चाहिए जिनमें सामूहिक सौदाकारी की पर्याप्त व्यवस्था नहीं थी। सन् 1918 के संशोधित व्यवसाय मण्डल अधिनियम में इस अभिप्राय का समावेश किया गया और इसके द्वारा श्रम-मन्त्रालय को किसी भी ऐसे उद्योग में अधिनियम को लागू करने (संसद की विशिष्ट अनुमति के बिना) का अधिकार मिल गया जिसमें इसके विचार में "इस समस्त व्यवसाय में मजदूरी के प्रभावपूर्ण नियमन के लिये कोई पर्याप्त व्यवस्था विद्यमान नहीं है।" फलस्वरूप व्यवसाय-मण्डलों का पर्याप्त विस्तार हुआ और सन् 1921 तक अन्य 28 व्यवसायों में इनकी स्थापना की जा चुकी थी, जिनमें लगभग 15 लाख श्रमिक सम्मिलित थे, तथा उनमें भी लगभग तीन चौथाई स्त्रियाँ थीं। दोनों युद्धों के मध्य यह वस्तुतः न्यूनतम मजदूरी कार्यवाही की अत्यधिक सफलता का प्रमाण था। सन् 1921 में व्यापारिक मन्दी और मूल्यस्तर में गिरावट के प्रकट होते ही प्रणाली के इस शीघ्र विस्तार का नियोक्ताओं की ओर से घोर विरोध किया गया और उनका विशेष आक्षेप अनेक मण्डलों के उस व्यवहार के विरुद्ध था जिसके अनुसार उन्होंने प्रत्येक व्यवसाय में न्यूनतम मजदूरी पाने वाले श्रमिकों के लिए न्यूनतम स्तर निर्धारित करने के अतिरिक्त अधिक उत्तम श्रेणी के श्रमिकों के लिए भी पृथक से न्यूनतम दर निर्धारित करना प्रारम्भ कर दिया। इन शिकायतों के समक्ष झुक कर सरकार ने वाइकाउन्ट के अधीन एक जांच समिति की स्थापना की और इस समिति ने सन् 1922 में इन मण्डलों के कार्यों में कुछ कमी करने के पक्ष में अपना प्रतिवेदन दिया। यह सुझाव दिया गया कि भविष्य में 'अनुचित रूप से" न्यून मजदूरी की दर का मापदण्ड वह होना चाहिये जिसे सन् 1909 के अधिनियम में स्वीकृत किया गया था और साथ ही 'कोई पर्याप्त व्यवस्था न होने" का मापदण्ड वह होना चाहिए जिसे सन् 1918 के अधिनियम के द्वारा एक स्थानापन्न सिद्धान्त के रूप में प्रयुक्त किया गया था। इसके साथ ही यह भी सुझाव दिया गया कि नीची श्रेणियों के अतिरिक्त अन्य श्रमिकों के लिये

निर्धारित न्यूनतम दरें दण्डविधान के बजाय केवल नागरिक कार्यवाही के द्वारा ही लागू होनी चाहिये, तथा यह कहा गया कि एक उद्योग मे जिला स्तर पर विभिन्न दरो को निर्धारित करने वाले जिला मण्डलो को और अधिक सुविधायें दी जानी चाहिये। केव समिति के सुझावों को लागू करने के लिये कोई नवीन अधिनियम नही बनाये गये, किन्तु श्रम मन्त्रालय ने यह घोषणा की कि भविष्य मे विद्यमान अधिनियम का प्रशासन इन सुझावो को ध्यान मे रखकर किया जायगा।

सन् 1930 के दशक के प्रारम्भिक वर्षो मे *व्यवसाय मण्डल प्रणाली को और दो ऐसे छोटे व्यवसायो चाकू छुरी और मोटे सूती वस्त्रो की कटाई (Fustian-Cutting) मे लागू किया गया—जिनमे अनेक दशाओ मे स्त्री श्रमिको की मजदूरी बहुत नीची थी। (कटलरी उद्योग म प्रमानी-दर पर काम करने वाली स्त्रियो मे से आधी, तथा मोटे सूती वस्त्रो की कटाई मे काम करने वाली एक चौथाई स्त्रिया 6 पेन्स प्रति घटा से भी कम दर प्राप्त कर रही थी)* । बाद मे इस प्रणाली को बेकरी एव फर्नीचर उद्योगो मे भी लागू कर दिया और सन् 1944 मे ऐसे मण्डलो की कुल सख्या 52 थी। किन्तु युद्ध से पहले के दस वर्षो मे व्यवसाय मण्डल प्रणाली के अन्तर्गत न्यूनतम मजदूरी-अधिनियम के क्षेत्र मे दो और महत्वपूर्ण नवीन परिवर्तन दृष्टिगोचर हुये। ये परिवर्तन, न्यूनतम दरो को निर्धारित करने के उद्देश्य से स्वतन्त्र-सदस्यो द्वारा निर्मित वैधानिक मण्डल की स्थापना के रूप मे न होकर, श्रमिक-सघो एव मालिको के सगठनो के मध्य पहले से सम्पन्न समझौतो को वैधानिक रूप से लागू करने और समस्त उद्योग के लिये मजदूरी की स्वीकृत न्यूनतम दरो को अनिवार्यत लागू करने के रूप मे हुये। सन् 1934 मे सूती वस्त्र उत्पादन उद्योग अधिनियम सूती वस्त्रो की बुनाई मजदूरी समझौतो के अधीन निर्धारित न्यूनतम दरो को अनिवार्य बनाकर कम आय (अधिकाशत अल्प रोजगार के कारण) की विशेष समस्याओ को हल करने का प्रयास किया और सन् 1932 तथा 1933 मे सडक यातायात से सम्बद्ध अधिनियमो के अन्तर्गत यह व्यवस्था की गयी कि सडक यातायात सचालको को दिये जाने वाले कुछ लाइसेन्सो या अनुज्ञा-पत्रो को प्रदान करने के लिये यह शर्त लगाई गयी कि वे अपने अधीन श्रम की दशाओ का स्तर कम-से-कम सडक यातायात उद्योग के समझौता मण्डल के द्वारा श्रमिको एव नियोक्ताओ के प्रतिनिधियो के बीच सम्पन्न समझौते मे निर्धारित स्तर से नीचा नही रखेंगे। सन् 1938 का सडक यातायात-सचालन मजदूरी अधिनियम (Road Haulage Wages Act) के द्वारा इससे भी एक कदम आगे बढकर, केन्द्रीय मजदूरी बोर्ड (क्षेत्रीय बोर्डो सहित) की स्थापना की व्यवस्था की गयी, जिसमे उद्योग के बाहर के कुछ व्यक्ति स्वतन्त्र सदस्यो के रूप मे सम्मिलित किये जाने तथा बोर्ड द्वारा दो प्रमुख प्रकार के अनुज्ञापत्रो के अन्तर्गत आने वाले वाहनो के लिये नियुक्त समस्त श्रमिको के लिये 'वैधानिक पारिश्रमिक' निर्धारित किये जाने

की व्यवस्था की गयी। युद्ध के समय सन् 1943 में खान-पान उद्योग में एक विशेष प्रक्रिया द्वारा न्यूनतम वैधानिक मजदूरी लागू करने के लिये एक विशेष अधिनियम पास किया गया। इसके अन्तर्गत उद्योग में स्थिति की आवश्यकताओं का सर्वेक्षण करने के लिये एक आयोग नियुक्त किया गया और उसके सुझावों पर उद्योग के उन वर्गों के लिये मजदूरी-बोर्डों की स्थापना की गयी जिनमें मजदूरी के स्वैच्छिक निर्धारण के लिये कोई सन्तोषप्रद व्यवस्था नहीं थी।

अन्तत सन् 1945 में मजदूरी परिषद अधिनियम नामक एक व्यापक अधिनियम पास किया गया जिसके अन्तर्गत सन् 1909 और 1918 के व्यवसाय-मण्डल-अधिनियमों की प्रमुख व्यवस्थाओं को पुन. अधिनियमित करते हुये, व्यवसाय-मण्डलों को मजदूरी परिषदों की सज्ञा प्रदान की गई और उन्हें कुछ अतिरिक्त अधिकार प्रदान किये जैसे कि गारन्टीयुक्त साप्ताहिक मजदूरी निर्धारित करने का अधिकार। भविष्य के लिये श्रम-मन्त्री को उन उद्योगों में ऐसी परिषदों की स्थापना का अधिकार दे दिया गया जहा मजदूरी "के प्रभावपूर्ण नियमन के लिये कोई व्यवस्था नही थी" अथवा जहा किसी जाच आयोग के सुझावों के आधार पर मजदूरी के नियमन के लिये कोई पर्याप्त स्वैच्छिक व्यवस्था न थी। इसके अतिरिक्त यह भी व्यवस्था की गयी कि युद्धोपरान्त की पाच वर्षों की अस्थायी अवधि के लिये किसी व्यवसाय के नियोक्ताओं का यह दायित्व होना चाहिए कि उनके द्वारा 'रोजगार की निर्धारित शर्तें एव दशायें श्रमिकों एव नियोक्ताओं की सस्थाओं के प्रतिनिधियों के मध्य सम्पन्न समझौते के अनुसार जिले के उद्योग या व्यवसाय में स्थापित शर्तों या दशाओं से कम अनुकूल न हों," और इस प्रकार युद्धकालीन मजदूरी के नियमन की व्यवस्थाओं को शान्तिकाल में भी चालू रखने की व्यवस्था की गयी। किन्तु नियोक्ताओं का यह दायित्व मजदूरी परिषदों द्वारा निर्धारित न्यूनतम दरों के विपरीत, निरीक्षण के द्वारा लागू नहीं किया जा सकता था और इसके अवहेलना या उल्लघन के लिये किसी दण्ड की व्यवस्था भी नहीं थी।

3 न्यूनतम मजदूरी की समस्यायें —व्यवसाय-मण्डलों के समक्ष आने वाली प्रमुख समस्याओं में एक समस्या उजरत-दरों पर काम करने वाले श्रमिकों के लिये न्यूनतम दरों का निर्धारण करने की एव दूसरी असाधारण रूप से धीमे एव अकुशल श्रमिकों को न्यूनतम दर से कम पर नियुक्त करने की अनुमति देने की रही है। 'उजरत' को परिमापित करने की कठिनाई के कारण उजरत पर काम करने वाले श्रमिकों के लिए न्यूनतम दरों के निर्धारण का कार्य विशेष रूप से जटिल होता है, और यह प्राय असम्भव है कि प्रत्येक सम्भव प्रकार के कार्य के लिए इस प्रकार अधिनियम बना दिया जाय कि उसका उल्लघन सम्भव न हो सके। इसका एक मात्र विकल्प किसी ऐसी रीति को अपनाना है जिसके अनुसार उजरत पर काम करने वाले किसी श्रमिक को आवश्यक रूप से चुकाई जाने वाली प्रति घटा न्यूनतम

राशि को निर्धारित किया जा सके। किन्तु इसमें भी विशेष कठिनाई यह है कि ऐसे धीमे श्रमिक का क्या किया जाय जो सामान्यत इस न्यूनतम प्रति घण्टा दर के बराबर भी नही कमा सकता ? यदि प्रति घंटा दर देने के लिये नियोक्ता को बाध्य किया जाता है, तो इस श्रमिक को सेवामुक्त किये जाने की सम्भावना बढ जाती है। सन् 1909 के अधिनियम मे यह व्यवस्था थी कि यदि 'साधारण श्रमिक" को प्रति घण्टे न्यूनतम आय प्रदान कर देती है तो यह समझा जाना चाहिए कि नियोक्ता ने नियम का पालन किया है किन्तु 'साधारण श्रमिक' की परिभाषा किस प्रकार की जाय ? *यहा फिर एक मनमाने तरीके को अपनाये जाने की आवश्यकता* हुई। यह मान लिया गया कि श्रमिको का एक निश्चित अनुपात 'साधारण' होता है—श्री केडबरी के अनुसार यह अनुपात 95 प्रतिशत था, किन्तु सिलाई व्यवसाय-मण्डल के द्वारा लगाये गये एक सतर्क अनुमान के अनुसार यह 80 प्रतिशत ही था। शेष श्रमिको के बारे मे यह मान लिया जाता है कि वे असाधारण रूप से "धीमे श्रमिक" होते हैं और यदि श्रमिक निरन्तर न्यूनतम से कम आय प्राप्त कर रहे होते हैं, तो नियोक्ता के लिये यह प्रमाण देना आवश्यक होता है कि ऐसे श्रमिक वास्तव मे असामान्य रूप से अकुशल हैं। फिर यह प्रश्न उठता है कि क्या उजरत-दरो पर कार्य करने वाले श्रमिकों की न्यूनतम दरें, अमानी पर नियुक्त श्रमिको की न्यूनतम दरो की तुलना मे ऊंचे स्तर पर निर्धारित नही की जानी चाहिये क्योंकि उजरत पर कार्य करने वाले श्रमिक सामान्यत अधिक तीव्रता से कार्य करते हैं और अमानी पर काम करने वाले श्रमिकों की अपेक्षा औसतन एक चौथाई या तिहाई अधिक उत्पादन करते हैं, तथा सन् 1918 के अधिनियम के उपरान्त व्यवसाय मण्डलो ने उजरत पर कार्य करने वाले श्रमिको के लिये एक पृथक एवं अधिक ऊँची आधारभूत न्यूनतम प्रति घंटा दर निर्धारित करने के प्राप्त विकल्प का प्रयोग किया था। उजरत दर पर नियुक्त 'धीमे श्रमिको' की दशा मे व्यवसाय-मण्डलों द्वारा न्यूनतम प्रति घंटा दरो से कम दर से मजदूरी चुकाने के लिये नियोक्ताओं को विशेष "अनुमति पत्र" दिये जाने की प्रथा रही है। व्यवसाय मे प्रशिक्षण प्राप्त कर रहे युवा व्यक्तियो को भी विशेष दर से मजदूरी चुकाये जाने के लिये नौसिखिओं का प्रमाण-पत्र जारी किये जाने की परम्परा है। इन अनुमति-पत्रों को जारी करने मे यदि मण्डल आवश्यकता से अधिक उदार हो जाता है, तो कानूनी न्यूनतम मजदूरी से बचने की सम्भावना मे वृद्धि हो जाती है और यदि वह आवश्यकता से अधिक कठोरता से काम लेता है, तो आयु, बीमारी अथवा दुर्घटना के कारण औसत श्रमिको मे कम कुशल श्रमिको को काम मे पृथक किये जाने की सम्भावना बढ जाती है। इसी प्रकार व्यवसाय मे प्रशिक्षार्थी युवा व्यक्तियो को दिये जाने वाले "नौसिखिओं का प्रमाण-पत्र" एवं विशेष दरो के निर्धारण की दशा मे यदि ये दरें बहुत नीची होती हैं, तो इन सस्ती दरो से आकर्षित नियोक्ताओ मे अधिक संख्या मे युवा व्यक्तियो को *काम पर लेने तथा बाद मे प्रौढ दरो (Adult rates) पर मजदूरी चुकाने का समय*

आने पर उन्हें काम से पृथक करने की प्रवृत्ति पाई जाती है। यदि ये दरें अत्यधिक ऊंची रखी जाती हैं, तो व्यक्तियों को व्यवसाय का प्रशिक्षण प्रदान करने में नियोक्ता को कोई लाभ दिखाई नहीं देता और फलस्वरूप युवा-श्रमिक व्यवसाय में प्रवेश पाने में असमर्थ रह जायेंगे।

एक दूसरी समस्या उद्योग के विभिन्न जिलों अथवा वर्गों के बीच असमान न्यूनतम दरों के प्रश्न से सम्बन्धित है और इस प्रश्न पर पर्याप्त विवाद रहा है। कुछ दशाओं में विभिन्न जिलों के निर्वाह-व्यय में भिन्नता हो सकती है, जिसके कारण उनमें वास्तविक मजदूरी की समानता केवल उसी दशा में हो सकेगी जबकि नकद मजदूरी में समान राशि के बराबर असमानता हो। इसके अतिरिक्त यदि विभिन्न जिलों में श्रम की किस्म में भिन्नता है, तो "औचित्य" का मापदण्ड केवल उसी दशा में पूरा किया जा सकता है जब एक जिले में नीची श्रेणी के श्रम को दी जाने वाली मजदूरी अन्यत्र ऊंची श्रेणी के श्रम को दी जानी वाली मजदूरी से कम होती है। ऐसी दशाओं में विभिन्न जिलों के मध्य न्यूनतम दरों में कुछ भिन्नता वांछनीय हो सकती है, क्योंकि ऐसा न होने पर यदि दर को उच्चवर्गीय जिले के सन्दर्भ में निर्धारित किया जाता है, तो इससे अन्य जिले में नीची श्रेणी के श्रमिकों को रोजगार से वंचित होना पड़ सकता है, और यदि यह ऐसी दर पर निर्धारित किया जाता है जो दूसरे जिले के लिये पर्याप्त है, तो यह पिछले जिले में श्रमिकों को पर्याप्त संरक्षण देने के लिए बहुत कम माना जा सकता है। इसी प्रकार की मान्यतायें सामान्यतः विभिन्न वर्गों के श्रमिकों के लिये विभिन्न दरें निर्धारित करते समय लागू हो सकती हैं। किन्तु जब किस्म में इस प्रकार की कोई भिन्नतायें नहीं होती हैं तो ऐसी दशा में किसी जिले में, केवल इस आधार पर कि वे अधिक ऊंची मजदूरी देने में समर्थ नहीं हैं" कुछ फर्मों को अन्यत्र दी जाने वाली दरों से नीची दरें चुकाने की अनुमति देने का कोई औचित्य नहीं होता है, जैसा कि देश में लघु वस्त्र निर्माता संस्थानों अथवा छोटे दुकानदारों अथवा पुरानी कोयला खानों की ओर से आम शिकायत रही है। इनके हित में भेदभाव करने का अर्थ केवल यह होगा कि अकुशल श्रमिक को अनुदान प्राप्त होगा और पूंजी एवं श्रम को केवल उन्हीं जिलों एवं व्यवसायों में टिकने के लिये प्रोत्साहित करना होगा जहां ये अन्य स्थानों की अपेक्षा कम उत्पादक होते हैं। ऐसी दशा में व्यवसाय के ऐसे कम कुशल जिलों या वर्गों से, जो राष्ट्रीय न्यूनतम दरों के दायित्व का पालन करने में अपने को असमर्थ पाते हैं, अतिरिक्त श्रम को हटाने और उसके लिये वैकल्पिक रोजगार की खोज करने की सम्भावना की समस्या उत्पन्न हो सकती है। श्रम की ऐसी गतिशीलता द्वारा पर्याप्त कठिनाई उत्पन्न होने पर ही अन्य स्थानों की अपेक्षा किसी स्थान पर स्थायी रूप से नीची जिला न्यूनतम दर को रहने दिया जा सकता है। सामान्य रूप से व्यवसाय-मण्डलों द्वारा समस्त व्यवसाय के लिए बहुत ऊंची

राष्ट्रीय न्यूनतम दरें निर्धारित की गयी हैं, तथा वस्तुत केवल समिति के मत के अनुसार सामान्यत जिलावार भिन्नता के लिये केवल वही व्यवस्था की गई है जहा विशेष परिस्थितियो को देखते हुये ऐसा करना स्पष्टत अपेक्षित था।

न्यूनतम दरो के निर्धारण की समस्या से भी अधिक कठिन समस्या अब तक उनको लागू करने की कठिनाई रही है। अनुभव के आधार पर अब प्राय यह प्रमाणित हो चुका है कि यदि किसी अधिनियम का कार्यान्वयन स्वय श्रमिको के नेतृत्व पर छोड दिया जाता है तो वह निश्चय ही लगभग मृतप्राय हो जाता है। प्रथम, श्रमिक उन अधिनियमो की शर्तों से सम्भवत अवगत नही होते, और यह अनुभव करते हुए भी कि वे अवैधानिक रूप से छल-कपट के शिकार हैं, वे रोजगार छिन जाने के डर से कदाचित इतने आशंकित होते हैं कि कोई कार्यवाही नही कर सकते और यदि ऐसा नही भी है तो श्रमिको के पास न तो इतने साधन होते हैं और न ही उन्हें इतना कानूनी अनुभव होता है कि वे दीर्घकालीन मुकद्मेबाजी म अपने को फसा सकें। जहा सुदृढ श्रमिक सघो का अस्तित्व होता है, वहा उनके द्वारा अधिनियमो की अवहेलना की जाच-पडताल एव कानूनी कार्यवाही प्रारम्भ करने का कार्य हाथ मे लिया जा सकता है, किन्तु मजदूरी परिषदो मे मुख्यत ऐसे उद्योग सम्मिलित होते हैं जिनमें श्रमिक सघ आन्दोलन का या तो अस्तित्व ही नहीं होता, अथवा वह व्यवसाय के एक भाग तक ही सीमित होता है। अत न्यूनतम दरो को लागू करने का उत्तरदायित्व, श्रम-मन्त्रालय द्वारा इसी प्रयोजन के लिये स्थापित निरीक्षणालय (Inspectorate) के कन्धो पर आ जाता है। यह ध्यान देने योग्य है कि उजरत दरो पर कार्य करने वाले श्रमिको की दशा मे, कानून की अवहेलना का पता लगाने के उद्देश्य से निरीक्षण के मार्ग मे विशेष कठिनाइया उपस्थित हो सकती हैं। पहले अपने कर्त्तव्य के पालन मे यह निरीक्षणालय अपर्याप्त था सन् 1924 म इसने सम्बद्ध उपक्रमो के 3 प्रतिशत उपक्रमों का निरीक्षण करना ही पर्याप्त समझा और इस गति से औसतन निरीक्षण के लिए किसी फर्म की बारी केवल तीस वर्षों मे एक वार ही आ सकती थी। उसके बाद से इस दिशा मे सुधार हुआ है। सन् 1931 तक निरीक्षको की सख्या बढ़कर 67 हो गयी और व्यवसाय-मण्डल अधिनियमो के अधीन फर्मों के 25 प्रतिशत का वार्षिक निरीक्षण किया जाने लगा, जबकि सन् 1923 और 1924 मे निरीक्षकों ने उनके द्वारा निरीक्षित फर्मों के 30 प्रतिशत मे अधिनियमो के उल्लघनो का पता लगाया, किन्तु सन् 1931 तक ऐसे फर्मों मे यह प्रतिशत गिर कर 12 रह गया।[1] युद्ध के बाद के वर्षो मे व सम्बद्ध उपक्रमो के लगभग 10 प्रतिशत मे निरीक्षण की व्यवस्था थी।

---

1. देखिए सन् 1923, 1924 एव 1931 के वर्षों के लिये श्रम-मन्त्रालय के प्रतिवेदन।

4 राज्य द्वारा विवाचन या पच-निर्णय (State Arbitration):—राज्य द्वारा न्यूनतम मजदूरी निर्धारित करते समय इस बात का विचार नही किया जाता कि मजदूरी अनिवार्यत क्या होनी चाहिये—इसके निर्धारण का प्रश्न सौदाकारी पर छोड दिया जाता है और सौदाकारी के द्वारा न्यूनतम से भी अधिक मजदूरी निर्धारित की जा सकती है—ऐसा करते समय केवल यह ध्यान रखा जाता है कि एक ऐसी न्यूनतम सीमा निर्धारित की जाय जिससे कम स्तर पर सौदाकारी के द्वारा मजदूरी के निर्धारण की स्वतन्त्रता न हो। किन्तु कुछ दशाओं मे राज्य, एक कदम और आगे बढ कर सामूहिक सौदाकारी के अतिरिक्त अथवा उसके स्थान पर दो पक्षों के मध्य अनुबन्धित मजदूरी की सीमा के विषय मे निर्णय देने के लिये उपयुक्त व्यवस्था स्थापित करता है। अपने सरल रूप मे ऐसी व्यवस्था के अन्तर्गत एक ऐसा सामूहिक समझौता किया जाता है जिससे दोनों पक्ष बाध्य हों, तथा ऐसा समझौता केवल एक नागरिक अनुबन्ध ही नही होता, बल्कि ऐसा अनुबन्ध होता है जिसका उल्लघन करना कानूनी अपराध माना जाता है। ऐसा या तो सरकार के निर्णयानुसार किया जा सकता है, अथवा ऐसी दशाओ मे किया जाता है जहा सम्बद्ध पक्ष इसके पजीकरण के लिये सहमत होकर इसे कानूनी शक्ति प्रदान करना चाहते हैं। अनिवार्य व्यवस्था के अगले कदम के रूप मे एक ऐसा सामूहिक समझौता किया जा सकता है जिसे 'सामान्य नियम' की सज्ञा दी जाती है, अर्थात् एक ऐसा नियम जिससे समस्त व्यवसाय बाध्य होता है, भले ही कोई ऐसे मूल समझौते से बाध्य रहा हो अथवा न रहा हो। राज्य की इच्छानुसार (जैसा कि क्वीन्सलेन्ड मे होता है) अथवा मूल समझौते पर हस्ताक्षर करने वाले पक्ष के निवेदन पर ही एसा किया जा सकता है—जिस प्रकार कि सन् 1934 के अधिनियम के अन्तर्गत (जिसका उल्लेख पिछले अध्याय म किया गया था) इग्लैंड मे सूती वस्त्र उद्योग मे किया गया। अधिक विकसित अवस्था मे यह प्रणाली अनिवार्य विवाचन (Compulsory arbitration) की एक सामान्य प्रणाली के एक भाग के रूप मे होती है जिसके अन्तर्गत विवाचन मडल अथवा औद्योगिक न्यायालय (जैसा कि न्यू साउथ वेल्स, क्वीन्सलेण्ड न्यूजीलेण्ट थता साउथ आस्ट्रेलिया) मे व्यवस्था है, किसी व्यवसाय के लिये उसके द्वारा उचित समझी जाने वाली मजदूरी के विषय म निर्णय देता है और इससे नियोक्ता एव श्रमिक दोनो सामान्य रूप से कानूनन बाध्य हो जात हैं। कभी-कभी विवाचन न्यायालय विवाद उठ खडे होने की दशा में ही अपना पच-निर्णय (Award) देता है और ऐसी दशा मे पचनिर्णय केवल विवाद के पक्षों पर ही लागू होता है। अन्य दशाओ मे न्यायालय के आदेश पर कभी भी पचनिर्णय दिया जा सकता है और समस्त व्यवसाय के लिए एक सामान्य नियम के रूप म लागू किया जा सकता है। जब सरकारी हस्तक्षेप इस अवस्था मे पहुच जाता है, तब सामूहिक सौदाकारी की स्वतन्त्रता समाप्त हो जाती है और उसके स्थान पर राज्य मजदूरी स्तर के नियमन के उत्तरदायित्व को स्वय अपने ऊपर ले लेता है।

किन्तु जबकि एक ओर, इसके द्वारा निर्धारित मजदूरी की दर पर काम करने के विषय मे श्रमिको की सामूहिक इन्कारी, तथा सामान्य तालाबन्दी के द्वारा (यदि इसकी स्पष्ट परिभाषा की जा सकती है, तो) कानूनी-दर को दी जाने वाली नियोक्ताओ की चुनौती का निषेध करता है, तो दूसरी ओर बिना क्रान्तिकारी उपाय अपनाये नियोक्ताओ के द्वारा मजदूरी की दर को अत्यधिक ऊचा समझे जाने पर प्रस्तुत रोजगार की मात्रा मे उनके द्वारा कमी किये जाने से उन्हे नही रोक सकता।

5 **मजदूरी सम्बन्धी नीति का भविष्य**—द्वितीय विश्व युद्ध के बाद की स्थिति मे तीन नवीन परिवर्तनो का मजदूरी की समस्याओ पर पडने वाला प्रभाव उत्तरोत्तर विवाद का प्रमुख विषय बन गया और ये तीन परिवर्तन थे—सामाजिक सुरक्षा की व्यापक प्रणाली का प्रचलन जिसने दरिद्रता से सुरक्षा प्रदान की, राजकीय नियन्त्रण के तथा कुछ दशाओ मे वास्तविक राजकीय स्वामित्व एव उद्योग के सचालन के क्षेत्र का विस्तार, तथा शातिकाल की अपेक्षा पूर्ण रोजगार की उपलब्धि की अधिक सम्भावना। यदि मानव को अभाव से मुक्ति मिल जाय एव बेरोजगारो का सरक्षित दल समाप्त हो जाय तो सर विलियम बेवरिज के शब्दो मे प्रथम बार श्रम बाजार एक "क्रेता-बाजार" से "विक्रेता बाजार" मे परिणत हो जायगा (युद्धकाल जैसे अपवादस्वरूप समयो को छोडकर) युद्धोत्तरकालीन विवाद के क्रम मे इन परिवर्तनो ने दो प्रश्न उपस्थित किये। प्रथम प्रश्न यह था कि क्या उद्योगो एव प्रदेशो के बीच श्रम की गतिशीलता जो आर्थिक परिवर्तन के अनुरूप उत्पादन के ढाचे को ढालने के लिए आवश्यक होगी, किसी समुचित मजदूरी नीति के द्वारा सफलतापूर्वक उपलब्ध की जा सकती थी और क्या यह वाछनीय होगा कि इस ध्येय को दृष्टिगत रखकर मजदूरी-नीति को निर्धारित किया जाय। द्वितीय प्रश्न यह था कि क्या नवीन परिस्थितियो की माग को देखते हुए, सरकार एव श्रमिक-सघो द्वारा उच्चस्तर पर निर्धारित कोई ऐसी केन्द्रित समन्वित मजदूरी नीति अपेक्षित थी जिसमे स्वायत्त सामूहिक सौदाकारी की प्रक्रिया के द्वारा प्रत्येक उद्योग मे पृथक रूप से मजदूरी का स्तर निर्धारित करने वाली परम्परागत प्रणाली के पर्याप्त सशोधन की व्यवस्था हो।

युद्ध के आरम्भ एव अन्त जैसे तीव्र सक्रांति के समयो मे अपेक्षित बडे पैमाने पर श्रम के स्थानान्तरण और सामान्य समय मे होने वाले श्रम के अपेक्षाकृत कम विस्तृत स्थानान्तरण के सदर्भ मे इनमे से प्रथम प्रश्न के उत्तर अत्यन्त भिन्न हो सकते है। दूसरी दशा मे अपेक्षित स्थानान्तरण की वार्षिक मात्रा उससे अधिक नही होगी जो विकासशील एव उज्ज्वल भविष्य वाले उद्योग के प्रति नये प्रवेशकर्त्ताओ के हट जाने से तथा ह्रासशील उद्योगो द्वारा युवा श्रमिको की भरती पर रोक लगाये जाने से उत्पन्न होगी। औद्योगिक प्रशिक्षण की प्रणाली और ऐसे

प्रशिक्षण की लागत में अनुदान के द्वारा तथा श्रम-विनिमय प्रणाली के माध्यम से रोजगार के अवसरों के बारे में प्रचार एवं परामर्श के द्वारा भी इस प्रकार का एक श्रमिक स्थानान्तरण लाया जा सकता है। साथ ही यह ध्यान देना आवश्यक है कि यदि जनसंख्या में किसी अप्रत्याशित कमी तथा उसके पश्चात् जनसंख्या के आयु के ढांचे में परिवर्तन की सम्भावना उत्पन्न होती है, तो इससे उद्योग में नियुक्त श्रमिकों की विद्यमान संख्या की तुलना में उद्योग में नवीन प्रवेशकर्ताओं का अनुपात कम हो जायगा जिससे कि विभिन्न उद्योगों में एक उद्योग से दूसरे में युवा श्रमिकों के जाने या विचलन के कारण उनकी संख्या में होने वाली असमानता में आनुपातिक रूप से कमी हो जायगी। किन्तु एक ऐसे उद्योग में जिसमें श्रम की मांग में वृद्धि हो रही हो, तथा एक ऐसे उद्योग में जिसमें श्रम की मांग में कमी हो रही हो, मजदूरी की दरों एवं आय के अवसरों में अपेक्षाकृत कम अन्तर, आवश्यक मात्रा में स्थानान्तरण को प्रोत्साहित करने के लिये पर्याप्त होगा। इस विचार के पक्ष में कि श्रम के प्रवाह की एक व्यवस्था के रूप में, विभिन्न व्यवसायों के बीच मजदूरी की असमानताओं का जान बूझ कर किया गया सृजन (यदि इसे रोका जा सके) अवाञ्छनीय होता है, बहुत कुछ कहा जा सकता है। उन श्रमिकों को, जिन्होंने ऐसे व्यवसायों में अपने भविष्य के निर्माण का अवसर चुना है तथा जिनमें बाद में चलकर श्रम की अतिरिक्त भरती की आवश्यकता नहीं रह जाती, इससे क्षति पहुँचती है और इससे विभिन्न उद्योगों के बीच आय तथा लागत-स्तर दोनों में ऐसी असमानतायें उत्पन्न हो जाती हैं जो समता एवं तर्क के विरुद्ध प्रतीत होती हैं। स्थानान्तरण को प्रोत्साहित करने में ऐसी असमानताओं की प्रभावोत्पादकता, इनके अस्थायी होने की सम्भावना होने पर, कम होगी। किन्तु यदि इनके अस्थायी से कुछ अधिक रहने की सम्भावना होती है, तो इनका अस्तित्व श्रमिक संघों के क्षेत्र में ऐसे आन्दोलनों को जन्म दे सकता है जिनका उद्देश्य कम मजदूरी वाले व्यवसायों में अनुचित रूप से न्यून दरों में वृद्धि करना हो।

किन्तु कभी कभी बड़े पैमाने पर श्रम का स्थानान्तरण आवश्यक हो, जैसाकि युद्ध की समाप्ति पर होता है, तो केवल युवा श्रमिकों की भरती में परिवर्तन मात्र पर्याप्त नहीं होगा, बल्कि ऐसे व्यवसायों में, जहां श्रम की मांग बढ़ रही हो, मजदूरी में वृद्धि के द्वारा श्रम के प्रवाह को प्रोत्साहित करना अत्यावश्यक होगा। द्वितीय विश्व युद्ध के उपरान्त एक विशेष समस्या यह थी कि उद्योगों के बीच मजदूरी की असमानतायें प्रायः इस प्रकार की थीं कि वे युद्धकालीन उद्योगों से शांतिकालीन उद्योगों में जिनमें विस्तार की बहुत अधिक आवश्यकता थी, श्रम के स्थानान्तरण में सहायक होने के बजाय, बाधक थीं। युद्धकालीन उद्योगों में, मजदूरी की दरें एवं आय दोनों ही अपेक्षाकृत ऊंची थीं। खान एवं सूती-वस्त्र उद्योगों में जो मानव-शक्ति के अभाव से पीड़ित थे, नवीन प्रवेशकर्ताओं के लिए कोई आकर्षण

नही था, क्योकि (दोनो विश्व युद्धो के बीच के समय की मन्दी के वर्षो के चिन्ह स्वरूप) वे बहुत थोडी मजदूरी वाले व्यवसाय थे। पर इस बात का उल्लेख किया जा चुका है (अध्याय छह में) कि *पूर्ण रोजगार की स्थिति में खान-व्यवसाय* जैसे कष्टसाध्य एवं संकटपूर्ण उद्योग में नवीन प्रवेशकर्ताओं को उद्योग के प्रति आकर्षित करने के उद्देश्य से, सापेक्ष एवं निरपेक्ष दोनो रूपो से मजदूरी का परम्परागत स्तर से भी ऊंचा बढना आवश्यक होगा। ऐसी दशा में स्पष्टत मानव शक्ति के वाछित वितरण को प्राप्त करने के लिए मजदूरी के ढाचे में क्रातिकारी *परिवर्तन करना आवश्यक था, जिससे उन बाधाओ पर विजय प्राप्त की जा सके* जिनसे कि ये कम मजदूरी वाले व्यवसाय पीडित थे।

राष्ट्रीय मजदूरी-नीति के मार्ग मे एक महत्वपूर्ण कठिनाई (इस मान्यता के साथ कि यह वर्गीय सामूहिक सौदाकारी का स्थान ले सकती है) यह है कि इस देश मे अन्य देशो की भाति श्रमिक सघ जगत की कोई ऐसी केन्द्रीय "सरकार" नही है जो *मजदूरी-नीति के विषय में अनिवार्यत लागू होने वाले निर्णय करने मे* सक्षम हो। प्रत्येक श्रमिक सघ एक स्वायत्त सस्था की भाति होता है और ट्रेड्स यूनियन काग्रेस की महापरिषद् (General Council) केवल समन्वयकारी कार्य करने के अतिरिक्त अन्य कोई कार्य नही करती है। युद्धोत्तरकालीन वर्षों मे महापरिषद्, सरकार की "मजदूरी" निग्रह नीति (Policy of wage restraint) जिसे आलोचको द्वारा वैकल्पिक रूप मे *"मजदूरी-स्थिरकरीण" (Wage-Freeze) की सज्ञा दी गयी* का समर्थन करने के लिये सहमत थी। किन्तु चाहते हुए भी, यह किसी सघ को मजदूरी मे वृद्धि के लिये जोर देने से रोक नही सकती थी और जब सन् *1950* के तत्काल बाद के वर्षों मे अधिकाश श्रमिक सगठनो ने "मजदूरी गतिरोध" (Standstill on wages) के प्रस्ताव को अस्वीकृत कर दिया तो सरकार के साथ, महापरिषद् द्वारा किया गया "निग्रह" समझौता नितान्त प्रभावहीन होगया। एक अन्य कठिनाई यह है कि इस विषय मे उद्योग के उत्पादन मे और उस उत्पादन मे होने वाली वृद्धि मे, श्रम का हिस्सा किस प्रकार निर्धारित किया *जाय* और यहा तक कि विभिन्न प्रकार के व्यवसायो मे मजदूरी के मध्य किस प्रकार "सही" सम्बन्धो (अथवा विभिन्नताओ) को स्थापित किया जाय, कोई ऐसे सर्वमान्य *सिद्धात नहीं हैं जिनका पालन किया जा सके (उपरोक्त किये गये विवेचन के अनुसार* यह प्रश्न अलग है कि एक व्यवसाय से दूसरे मे, अथवा एक स्थान से दूसरे स्थान मे श्रम के *"स्थानान्तरण" के साधन के रूप में मजदूरी की विभिन्नताओ का प्रयोग किया जाय* अथवा न किया जाय)। कुछ भी हो, इस बात का कोई लक्षण नही दिखलाई देता है कि श्रमिक सघ, कम से कम निजी उद्योग में, मजदूरी के विषय मे स्वतत्र सामूहिक सौदाकारी के अधिकार का परित्याग करने के लिये उत्सुक होंगे—और इस बात का कम लक्षण दिखलाई देता है कि उच्च स्तर पर श्रमिक सघो के अधिकारियो के उद्यत होने के बावजूद भी इन सघो के साधारण सदस्य ऐसा करने के लिए सहमत हो जायेंगे।

अंग्रेजी–हिन्दी शब्दावली

Agnosticism	अज्ञेयतावाद, संशयवाद
Apprentice	नौसिखुआ
Apprenticeship	शिशिक्षुता या शिक्षणावस्था
Arbitration	विवाचन, पंच प्रणाली
Arbitrator	विवाचक, पंच
Artisan	शिल्पी, दस्तकार
Award	पंच निर्णय, पंचाट
Blackleg	विश्वासघाती
Boom	तेजी
Calculation	परिकलन
Casual employment	आकस्मिक या अस्थायी रोजगार
Casual labour	नैमित्तिक श्रमिक, आकस्मिक श्रमि अवसर पाकर काम करने वाला मजदूर
Casual system	अनियत प्रणाली
Census of production	उत्पादन गणना
Chain method	शृंखला रीति
Civil contract	नागरिक अनुबन्ध
Circulating capital	संचलन पूंजी, गत्वर पूंजी
Coincidental	संपातिक
Collective bargaining	सामूहिक सौदाकारी
Combination acts	संगठन-अधिनियम
Conciliation	समझौता
Cost of living index numbers	निर्वाह व्यय सूचकांक
Cumulative tendency	संचयी प्रवृत्ति
Currier	चर्मकार
Decasualization	स्थायीकरण
Disagreeableness	अरुचिकरता
Dismissal	बर्खास्तगी
Distributive trade	वितरक–व्यवसाय
Dock	गोदी
Domestic system	घरेलू प्रणाली

Economy of high wages	ऊची मजदूरी की मितव्ययिता
Employment	रोजगार
Employment exchange	रोजगार-कार्यालय
Emigration fund	प्रवास कोष
Enclosure	घेराबन्दी
Factors	कारक
Farrier	अश्वचिकित्सक
Flow	प्रवाह
Fund	कोष
Generalisation	सामान्यीकरण
Gross receipts	सकल प्राप्तिया
Homlessness	निवासहीनता
Horizontal movement of labour	श्रमिको की समस्तर या क्षैतिज गतिशीलता
Human nutrition	मानव पोषण
Immigration	आप्रवासन, आव्रजन
Immobility	गतिहीनता
Inducement	अभिप्रेरणा
Industrial reserve army	औद्योगिक आरक्षित सेना
Industrial courts	औद्योगिक न्यायालय
Initiation ceremonies	दीक्षा समारोह
Inspectorate	निरीक्षणालय
Intermittent work	सविराम कार्य
Intensity	गहनता
Intimidation	डराना-धमकाना
Job price	कार्य-मूल्य
Joint demand	सयुक्त माग
Labour turnover	श्रम की अदला-बदली, श्रमिक-फेर, श्रमिक-आवर्त
Laissez-Faire	निर्बाधावादी दृष्टिकोण
Lay-off	जबरी छुट्टी
Lien	ग्रहणाधिकार
Maintenance prices	अनुरक्षण-मूल्य
Marginal productivity	सीमान्त उत्पादकता
Mechanics	यान्त्रिकी

Merchant manufactures	व्यापारी-विनिर्माता
Merger	विलयन
Multiple shift system	बहु-पारी पद्धति
Non-competing groups	अप्रतियोगी समूह, अस्पर्धी वर्ग
Non-unionist	गैर-संघी
Outgoings	निकासियां
Overlapping	अधिव्यापन
Overtime work	समयोपरि कार्य
Overhead cost	ऊपरी लागत
Pay	वेतन
Picketing	धरना
Piece rate earning	उजरत के आधार पर प्राप्त आय
Ploughman	हाली
Pin-money	जेब खर्च
Poll taxes	व्यक्ति-कर
Product	उत्पादन, उत्पाद
Gross national product	सकल राष्ट्रीय उत्पाद
Proletariat	सर्वहारा-वर्ग, मजदूर-वर्ग
Profit-sharing	लाभ-सहभाजन
Rest-pause	विश्रामान्तर
Rigid	अनम्य
Rolling	बिनाई
Salary	वेतन
Sceptical	संशय-ग्रस्त
Sectional	वर्गीय
Select Committee	प्रवर समिति
Selling price scale	विक्रय मूल्य क्रम
Serf	कृषिदास
Sheltered	आश्रित
Shift	पारी
Skilled	दक्ष
Slave	दास
Sliding Scale	खिसकी-क्रम या सरकने वाला क्रम
Slump	मन्दी
Stored-up labour	संचित श्रम

Stone-masons	राजगीर
Sub contract	उप-अनुबन्ध
Subsidy	उपदान
Subsistence theory	निर्वाहसिद्धान्त
Supersession	अतिक्रमण
Surtax	अतिकर
Surplus	अधिशेष
Sweating	शोषण
Sweated trades	शोषित श्रम-सम्बन्धी व्यवसाय
Theorem	प्रमेय
Time preference	समय-अधिमान, समय-अधिमान्यता
Trade unionism	श्रमिक संघवाद
Treasury index	कोषागार सूचनाक
Truck system	जिन्स अदायगी पद्धति
Under-nourished	अल्प-पोषित
Unskilled	अदक्ष
Upward mobility	ऊर्ध्वाकार या उदग्र गतिशीलता
Vertical movement of labour	श्रमिकों की अन्त. स्तर या उदग्र गतिशीलता
Wages	मजदूरी
Piece wages	उजरत
Time wages	अमानी
Money wages	नकद मजदूरी
Real wages	वास्तविक मजदूरी
Wage census	मजदूरी-गणना
Wage outlay	मजदूरी-व्यय
Wage freeze	मजदूरी-स्थिरीकरण
Wage-restraint	मजदूरी-निग्रह
Stand still on wages	मजदूरी-गतिरोध
Wear and tear	ह्रास और अवक्षयण
Works committee	मालिक-मजदूर समिति, कारखाना-समिति